सात गीत-वर्ष

•

धर्मवीर भारती

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

Purchased at Delhi
Feb. March — 1987
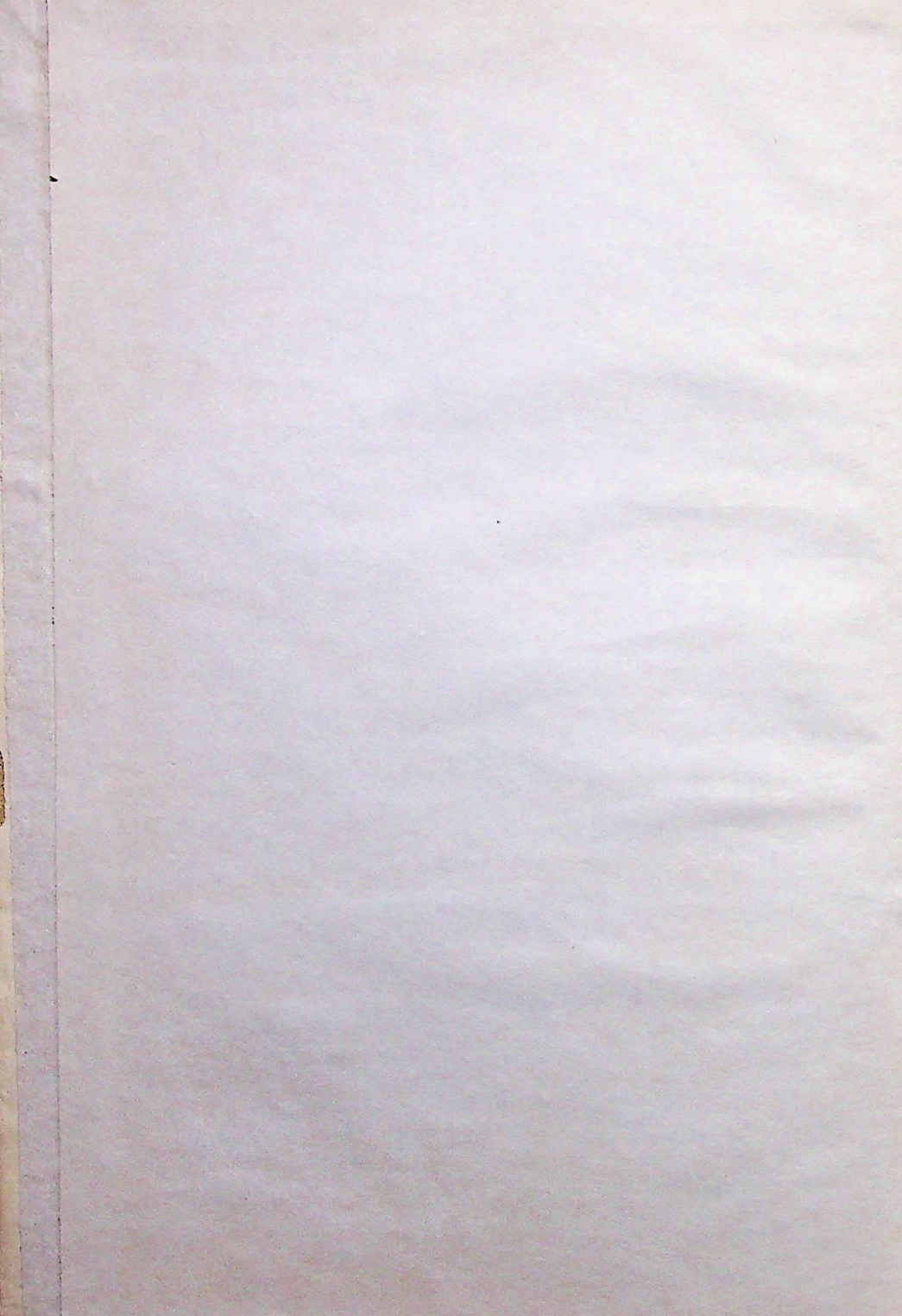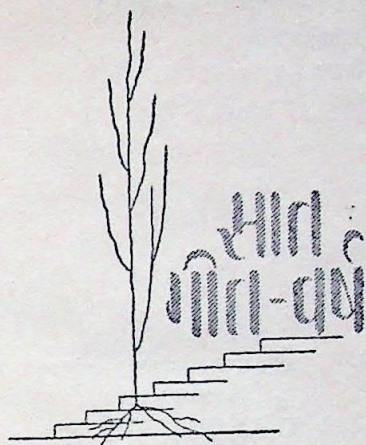
धर्मवीर भारती

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक ९१
सम्पादक एवं नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश

प्रथम संस्करण : १९५९
द्वितीय संस्करण : १९६४
तृतीय संस्करण : जनवरी १९७६

सात गीत-वर्ष
(कविता)
धर्मवीर भारती

तृतीय संस्करण
मूल्य : छह रुपये

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७ कॅनॉट प्लेस
नयी दिल्ली-११०००१

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग
वाराणसी-२२१००५

Publishers
BHARATIYA JNANPITH
B/45-47 Connaught Place
NEW DELHI-110001
Third Edition : Price Rs 6/-

SATA GEET-VARSHA : Poems : Dharmavir Bharati
Lokodaya Series : Title No. 91
Third Edition : Price 6/-

अनुक्रम

□

क्षण,

काव्य-सृजन का,

सच है कि सबसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु है – लेकिन शायद वही है जिसके बारे में स्वयं रचनाकार भी कठिनता से ही कुछ निश्चयपूर्वक कह सकता है। वैसे तो मन पर उस क्षण का स्वाद बहुत तीखा छूट जाता है लेकिन जब उसे प्रकट करने की चेष्टा करो तो लगता है कि यह तो न मालूम कितने जाने-अनजाने स्वादों का सम्मिलित स्वाद है जिसके संवेदन को ठीक-ठीक व्यक्त कर पाना असम्भव-सा ही है। एक हिचक मन में और होती है कि जो कुछ कहने-सुनने लायक़ था वह तो एक-एक बूंद काव्यकृति में उँड़ेलकर वह क्षण रीत गया, अब अपनी याददाश्त में उसे फिर से सम्पुंजित करने की चेष्टा भी करें तो ऐसा न हो कि उसका आस-पास, परिस्थिति, समय, स्थान और आसंग तो वापस खोजे जा सकें – मगर उसका मर्म, उसका सारतत्त्व छूट ही जाये।

कई बार समकालीन लेखन में भी रचना-प्रक्रिया के ऐसे सांगोपांग विवरण देखने को मिले हैं; पर उन्हें देखकर बहुधा यही भावना हुई है कि वे अजायबघर में रखे हुए जलपाखी हैं, खालमढ़े मृतरूप जिनमें रूप-रंग, आकार, पंजे, पंख सब जुटा दिये गये हैं किन्तु ग़ायब है तो केवल उसकी उड़ान – पूर्णिमा की रात को चन्द्रमा और समुद्र के बीच उसकी आकुल आवेश-भरी उड़ान; और ग़ायब है उसकी अजीब-सी चीत्कार – भय, वेदना, उल्लास, उन्मत्त वासना, विजय और आशंका से भरी हुई। अजायबघर का पाखी दूसरे दिन सुबह बालू पर छूट गया उसका अवशेष है – जलपाखी नहीं।

एक ओर यह दुस्तर कार्य और दूसरी ओर यह मेरा अजीब-सा मन जिसे उन्मुख करो पूरब की ओर तो भागेगा धुर पश्चिम की ओर। नियोजित करो अपने काव्य-सृजन के क्षणों को पुनः स्मरण करने को, तो अदबदाकर उसे वे क्षण याद आयेंगे जो मन पर जाने कब अपनी छाप छोड़ गये हैं लेकिन काव्य-सृजन से उनका दूर का लगाव भी नहीं है। विन्ध्य की एक पहाड़ी नदी में अँधेरे का स्नान, अपने पुराने घर के उखड़े पलस्तरवाली एक दीवार पर कल्पित बेडौल शक्लें, कोणार्क के रास्ते में फरद के लाल उत्तप्त नोकीले फूल, बीमार पत्नी का मुरझाया चेहरा, तैरते हुए मछलियों के झुण्ड और यह, और वह, और तमाम सब, लेकिन सब

परस्पर असम्बद्ध, और रचना के क्षण से जिनका कोई दूर का सूत्र भी नहीं जुड़ता।

लेकिन इन सबों के बीच रह-रहकर मन एक स्मृति-चित्र पर बार-बार जा टिकता है, बहुत पुराना, लेकिन अब भी बिलकुल ताज़ा....

....कच्ची नींद से मुझे जगा दिया गया है और ले जाया जा रहा है घनघोर अँधेरे में गाँव के बाहर ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर से, खेत, टीलों, पोखरों के बीच से, मीलों दूर, नहरवाली अमराई में जहाँ देवकालिन का मन्दिर है। दीवाली की छुट्टियाँ मनाने बहन के घर आया हूँ, इस छोटे-से धूल-भरे उदास टूटे-फूटे पुराने क़स्बे में जहाँ सूरज डूबते ही रात हो जाती है, सड़कें वीरान हो जाती हैं। मगर आज रात-भर अँधेरे में पगध्वनियाँ सुनाई देंगी क्योंकि आज आधीरात देवी की पूजा होती है और पीर के चबूतरे पर चादर चढ़ती है – उन पगध्वनियों में एक नन्हीं किशोर पगध्वनि मेरी भी है लेकिन डगमग, क्योंकि मेरी आँखों में अब भी नींद है और अधनींदा चल रहा हूँ और घरवाले मेरा हाथ पकड़े हैं। अच्छी तरह याद हैं मुझे वे क्षण। अधनींद में मुझे सामने कुछ नहीं दीखता सिवा टॉर्च से गिरा एक उजाले का गोल टुकड़ा जिसके पीछे मैं, और स्थिर है वह उजाले का वृत्त और स्थिर हूँ मैं – चल रही है केवल वह पगडण्डी, कंकड़, पत्थर, मेड़, खेत पर से सरकती आती हुई, उस उजले वृत्त में से टेढ़े-मेढ़े बलखाती हुई, मेरे पाँवों के नीचे विलुप्त होती हुई। खड़ा हूँ मैं – स्थिर, नींद डूबा और अँधेरे में चल रही हैं खुशबुएँ कुछ जानी कुछ अनजानी – अभी नम पोखर की सर्द खुशबू, अभी अँधेरे में सूखते उपलों की, अभी कटी हुई कुट्टी की, अभी बनतुलसा की, अभी जंगली कबूतरों के राखरँगे पंखों की....मानो मैं स्थिर खड़ा हूँ और रास्ता और उसका परिपार्श्व अलसाता आता हुआ मुझमें से गुज़रता जाता है।

....कब रास्ता खत्म हुआ, कब अँधेरा फट गया, कब अकस्मात् शून्य में से एक जगमग दृश्य प्रकट हो गया मेरे सामने – यह याद नहीं। सामने है मन्दिर, चबूतरा, गैस के हण्डे, शहनाइयाँ, झाँझ, हारमोनियम, क़व्वाली, अगरबत्तियाँ, आते हुए लोग, जाते हुए लोग, पुकारते हुए लोग, बोलते हुए लोग।

अब जाग गया हूँ मैं, जी रहा हूँ, सक्रिय हूँ। सब चीज़ें अपनी जगह स्थिर हैं, यहाँ तक कि बेहद शोरवाली भीड़ भी केतली में खलभलाते जल

की तरह चंचल मगर अपनी परिधि में स्थिर है। चल रहा हूँ केवल मैं। एक जगह गुमसुम खड़ा मैं आ रहा हूँ, जा रहा हूँ, इसमें से, उसमें से — इसके बग़ल से, उसके पास से....नहर की पुलिया के पास गुमसुम खड़ा मैं।

काफ़ी देर हो चुकी है। घरवाले सुबह तक यहीं जागरण करेंगे। मुश्किल से इजाज़त मिली है घर लौटने की अकेले। मैं मुड़ा — रोशनी का जगमगाता द्वीप पीछे मुड़ गया — सामने है अँधेरे का विशाल समुद्र अथाह दूर तक फैला हुआ।

दृश्यान्तर। लौट रहा हूँ जहाँ से आया था वहीं। सब कुछ वही है पर इतनी ही देर में कुछ भी तो वही नहीं। कहाँ हैं वे जो मेरे साथ थे। कहाँ है प्रकाशवृत्त के पीछे मेरी स्थिरता। हाथों में टॉर्च की रोशनी है लेकिन अथाह अँधेरे में क्षुद्र, असहाय, अनिश्चयग्रस्त, धुँधली, सहमी हुई, पथ के हर रोड़े से टकराकर टूटती हुई, हर झाड़ी में उलझकर तार-तार होती हुई....

और पहली बार तो नहीं थे, इस बार कहाँ से आ गये ये कटे पेड़ों के ठूँठ, प्रेत, झाड़ियों में छिपी अजाने भय की चमकती आदमख़ोर आँखें, पोखरों के अन्धे जलों पर तैरती गूँगी छायाएँ....और मेरा गला सूखने लगा, कब पाँवों में से ताक़त जाने-सी लगी, मैं नहीं जानता।....और पहली बार, पहली बार मेरे उस किशोर मन को लगा कि मैं अथाह शून्य के समक्ष खड़ा हूँ। मृत्यु नहीं, आपदा नहीं, — शून्य।

पीछे मुड़कर देखा मन्दिर और रोशनी और भीड़-भाड़ अँधेरे में विलीन हो चुके थे। लगता था कि विशाल जलयान टूट गया और डूब गये लोग और अब मैं पुकारूँ भी तो कोई बचाने नहीं आयेगा।

और सामने देखा और याद करने की कोशिश की पुराना क़स्बा और धीमी लालटेन में बच्चों को सुलाकर जागती हुई बहन का ममता-भरा चेहरा — पर वह भी उस अँधेरे में नहीं दीखा, नहीं दीखा। वह ऐसा भविष्य लगा जो बीत गया अब कितना भी चलूँ वापस नहीं मिलेगा।

कितना अजीब अकेलापन — राह है, क़दम हैं, घर है लेकिन कुछ भी नहीं। एक विराट् अनस्तित्व। अँधेरा, अनिश्चय, विराट्, अथाह और उसके समक्ष मैं — निहत्था — अपने अतीत और भविष्य से भी वंचित। जहाँ पहुँचा था वहाँ से चला हूँ, जहाँ से चला था वहाँ जा रहा हूँ पर जहाँ पहुँचा था वह डूब चुका है और जहाँ जाना है वह पता नहीं अँधेरे के पार है भी या नहीं।

एक विराट् अनस्तित्व, शून्य, अन्धकार....

शायद यह यात्रा हम जीवन-भर करते रहते हैं और कितनी बार, कितनी बार, यह अनस्तित्व, यह शून्य हमको जीने लगता है, और हम पाते हैं कि हमारा समस्त आस-पास उजाला, भीड़-भाड़, विज्ञान, दर्शन, अकस्मात् अनस्तित्व में लीन हो गया है। है, लेकिन नहीं है। अँधेरे में हैं हम—अकेले, निहत्थे, असहाय! या शायद हम भी नहीं सिर्फ़ प्रगाढ़ अन्धकार में निहत्थे हाथों की टटोल, खोज....लेकिन फिर हम पाते हैं कि हम बच गये हैं...। होता क्या है कहना कठिन है। बाहर सिर्फ़ इतना होता है कि यन्त्रचालित गति में क़दम उठते जाते हैं। इस दौरान में अन्दर क्या घटित होता है इसका अनुमान करना कठिन है।

....शायद होता यह है कि हमारे अतीत और भविष्य का जगत् दोनों अकस्मात् मिथ्या पड़ जाते हैं। बीच में बच जाते हैं हम; वर्तमान क्षण के वटपत्र पर; और ताकि हम जीते रहें—संसार को पुनः उत्पन्न होना पड़ता है भय में से, यातना में से, शून्य में से।....

....या शायद संसार यथावत् रहता है केवल अतीत और भविष्य से पूर्णतः विच्छिन्न होकर हम अपने अन्दर कहीं मृत हो जाते हैं और उस क्षण में फिर हम अपने को रचते हैं और फिर सबको नये सिरे से धारण करते हैं।

....या शायद न संसार नष्ट होता है न हम। केवल हमारी पुरानी जगत्-चेतना अकस्मात् बिलकुल शून्य पड़ जाती है—अतीत और भविष्य के प्रति, बाह्य और अन्तर के प्रति हमारे सारे अद्यावधि स्थापित सम्बन्ध अकस्मात् टूट जाते हैं और हम फिर नितान्त शून्य में से उबरकर उन सम्बन्ध-सूत्रों को नये स्तर पर जोड़ते हैं और अपने नव-रचित सम्बन्धों के वर्तमान के आधार पर हम अपने अतीत और भविष्य की नित नूतन उपलब्धि करते हैं।

....शायद....

हाँ यह 'शायद' बहुत महत्त्वपूर्ण है। शायद इनमें से कोई एक प्रक्रिया घटित होती है, या शायद सब होती है, या शायद कोई नहीं होती। होता है कुछ और....

....शायद हम भी रहते हैं और संसार भी। नष्ट कुछ नहीं होता। जहाँ से हम चलते हैं वह भी और जहाँ तक हम पहुँचते हैं वह भी। हम

दोनों को जी चुके होते हैं, अपने में धारण किये हुए होते हैं लेकिन अकस्मात् किसी एक क्षण में हम पाते हैं कि यह सब है तो पर अकस्मात् हमारे लिए अर्थहीन हो गया है, अनिश्चित हो गया है। और हम विराट् शून्य में अकेले छूटते जा रहे हैं और हम अकेले छूटना नहीं चाहते। जीना चाहते हैं और अनस्तित्व में से अस्तित्व पाने के लिए अभिव्यक्त करना चाहते हैं अपने को, और बिना संसार के हम अपने को अभिव्यक्त कैसे करेंगे, अतः हम किसी एक स्तर पर मूल्य और अर्थ देते हैं हर चीज़ को और हर चीज़ के माध्यम से अपने को। पाये हुए और पाकर खोये हुए संसार को और किसी एक स्तर पर 'रचते' हैं। ऐसे स्तर पर जहाँ कुछ भी फिर कभी धुँधला और अर्थहीन न पड़े।

जीवन में जिये हुए अनुभवों, संवेदनों, पीड़ाओं और सुखों में तथा काव्य में रचे हुए पीड़ाओं, सुखों और संवेदनोंवाले जीवन में शायद यही सम्बन्ध है और यही अन्तररेखा। अपनी चरम निजी अनुभूति और व्यापक संसार, क्षण और निरवधि काल के बीच अँधेरी राह पर कहीं एक भूमि है जहाँ शून्य को पराजित कर हम 'रचते' हैं स्थायित्व देने के लिए और सार्थकता पाने के लिए। जो पाकर खोया जा सकता है उसे रचने के ऐसे बिन्दु पर उपलब्ध करने के लिए जहाँ से वह फिर खोया न जाये।

क्या ऐसा है कि समूची जीवन-प्रक्रिया अलग चलती रहती है और रचना-प्रक्रिया का यह घनीभूत क्षण अकस्मात् कभी रहस्यमय ढंग से अकारण आ जाता है। शायद नहीं। कितने ही क्षण हैं, कितनी स्थितियाँ हैं जो प्रत्यक्षतः असम्बद्ध लगती हैं पर कुल मिलाकर हमारे चेतन या अर्द्धचेतन मन में लहर पर लहर इस एक बिन्दु को उभारती रहती हैं। (क्या इसीलिए, जैसा मैंने प्रारम्भ में कहा, किसी एक क्षण को याद करने के बजाय मेरा मन जाने कहाँ-कहाँ भटक जाता है।) जब समूची जीवन-प्रक्रिया किसी न किसी रूप में रचना के क्षण से सम्बद्ध होती है तो वे लोग जो अकसर आरोप लगाते हैं कि अमुक कविता है तो मर्मस्पर्शी लेकिन जीवन से दूर है, वे कविता के बारे में क्या और कितना जानते हैं यह कहना कठिन है। जो खरा काव्य है उसकी रचना-प्रक्रिया में, कितने ही अप्रत्यक्ष रूप में हो, किन्तु जीवन-प्रक्रिया अनिवार्यतः उलझी रहती है।

कितनी विभिन्न स्थितियों में से, हम इस जीवन को उपलब्ध करते हैं। अधिकतर तो यह लगता है कि हम जी नहीं रहे हैं, जिये जा रहे हैं। कभी उस नींद-डूबी यात्रा की तरह खुद चलते हुए भी अहसास स्थिरता

का होता है और लगता यह है कि हम ठहरे हैं पर बाक़ी सब हममें से गुज़रता जा रहा है। कभी खुद पुलिया के पास चुपचाप खड़े रहते हैं पर अहसास यह होता है कि बेशुमार भीड़ में से हम हरेक में से आ रहे हैं, जा रहे हैं। कभी अपने में 'सर्व' का, 'प्रत्येक' का साक्षात्कार करना और कभी 'सर्व' में, 'प्रत्येक' में, अपना। ये सब जाने कितनी स्थितियाँ हैं जो रचना के क्षणों में सार्थक होती हैं। वह एक बिन्दु है जिसमें से सब संसरण करता है, पुनः रचे जाने के लिए।

और यह प्रक्रिया केवल कुछ चुने हुए अत्यन्त सुविधापूर्ण क्षणों में ही नहीं घटित होती। रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के तथाकथित अत्यन्त गद्यात्मक नीरस काम, दफ़्तर, बाज़ार, सौदा-सुलुफ़, हारी-बीमारी, रोज़गार के बीच भी रचनाकार का मन अनजाने चुपचाप काव्य-सृजन की भूमिका प्रस्तुत करता रह सकता है। इसीलिए जाने कितने रूपों में कितने प्रकार से जीवन तथा बाह्य परिवेश काव्य-कृति में समाविष्ट होता चलता है। यही कारण है कि खरी काव्य-कृति का मुख्य गुण है सजीवता, अनायास सजीवता। और यही कारण है कि जब सहज रचना-प्रक्रिया में व्यवधान उत्पन्न कर प्रयासपूर्वक जीवन या जीवन की ऐसी व्याख्याएँ काव्य पर ज़बरदस्ती आरोपित करने की चेष्टा की जाती है, जो रचना के अपने आन्तरिक सृजन-विकास से उद्भूत नहीं हैं, तो वे निश्चित रूप से काव्य को निर्जीव ही बनाती हैं। जब भी काव्य में 'दृष्टि' उभरी है तो तभी जब रचनाकार के मन में दोनों ही स्तर स्वतः सजीव और सक्रिय रहे हैं, दोनों ही एक-दूसरे को अनुप्राणित भी करते चले हैं और अनुशासित भी, कभी विरोधी स्थितियों में, कभी समानान्तर स्थितियों में, कभी पूरक स्थितियों में।

निःसन्देह रचनाकार के मन की यह स्थिति काफ़ी जटिल होती है। इस जटिल स्थिति को समझने या जी सकने में जो असमर्थ होते हैं वे अकसर इसे सरल करने की कोशिश करते हैं—इनमें से किसी एक स्तर को काटकर। सरलता की ओर अकाव्यात्मक पलायन का एक रूप वह होता है जब रचना-प्रक्रिया की अनिवार्य प्रकृतिगत माँगों की उपेक्षा कर जीवन की किसी एक संकीर्ण परिधि को ही सब कुछ सौंप दिया जाता है और कविकर्म केवल निर्देशित विषय (शास्त्र द्वारा, धर्म द्वारा, राजसत्ता द्वारा) नीति, आदेश, योजना, फ़तवों के पद्यान्तरण तक सीमित हो जाता

है। ऐसे काव्य का खोखलापन जाहिर होते देर नहीं लगती। सरलता की ओर दूसरा अकाव्यात्मक पलायन है उनका जो समूची जीवन-प्रक्रिया और यथार्थ की कठोर भूमि से असम्पृक्त रहना चाहते हैं अतः वे रचना-प्रक्रिया को जीवन-प्रक्रिया से नितान्त पृथक्, कभी-कभी अनिवार्यतः विरोधी मान लेते हैं। वे कहते हैं कि उनकी काव्यप्रेरणा किसी दिव्य अशरीरी लोक से आती है, उनका रचनाकार 'द्रष्टा' और 'स्वयम्भू' है अतः साधारण प्राणी से कुछ ज़्यादा ऊँचा है—और फिर यह तर्क यहाँ तक ले जाता है कि न केवल रचनाकार के 'प्राण', वरन् उसकी वेश-भूषा, बातचीत, तौर-तरीक़ा, सब साधारण से कुछ पृथक् होनी अनिवार्य हो जाती है—लोकोत्तर—क्योंकि उसकी मृदु-मृदु प्रतिभा तो इस लोक में भटकी हुई अश्रुमय कोमल परदेशिनी है।

काव्य-सृजन की वास्तविक भूमि की जटिलता से ये दोनों मार्ग मुक्ति दिलाते हैं अवश्य; यह बात दूसरी है कि इन दोनों मार्गों पर चलकर वह न मिले जो सम्पूर्णतः कविता है, या जो प्रौढ़ कविता है। कभी-कभी रोचक लगती है उनकी नियति जो कभी इस मार्ग पर भागते हैं कभी उस मार्ग पर और ज्यों-ज्यों आगे जाते हैं त्यों-त्यों मूलतः कविता से दूर होते जाते हैं।

इनसे बहुत अलग है वह भावस्थिति जो अपने को रचनाकार मानते हुए भी अपने को सामान्य से पृथक् नहीं मानती, रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में अपने को परदेशी नहीं मानती। ऐसे लोग असाधारणता का बाना नहीं ओढ़ते, सहज रूप में जीवन को सम्पूर्ण परिवेश में जीने के हामी हैं, व्यक्तित्व को हारते नहीं, जगत् को अस्वीकारते नहीं, और अपने हर अकेलेपन में अभिव्यक्ति के द्वारा अपने को 'सर्व' से 'प्रत्येक' से जोड़ने की चेष्टा करते हैं। राह उनकी अँधेरी होगी ही, पर इससे क्या, वे रचते भी तो उसी में से हैं।

काव्य-सृजन की इस जटिल भूमि पर, इस तमाम प्रक्रिया में से एक सजीव रचना उभरती आती है, मन के चेतन और अर्द्धचेतन स्तरों में से रूपायित होती हुई। कभी, धीरे-धीरे विभिन्न स्थितियों में से गुजरते हुए, एक-एक कण बनते हुए, रचनाकार अपने चेतन अंश से उसे महसूस करता है। कभी-कभी रचना की प्रारम्भिक स्थितियों से रचनाकार का चेतन मन स्वतः अनवगत रहता है। जानता है तब, जब अकस्मात् उसका विस्फोट

होता है। घण्टे-भर में, दो घण्टे-भर में मोहाविष्ट-सा रचनाकार उसे प्रस्तुत कर देता है।

एक सप्राण सजीव रचना प्रस्तुत कर देने के बाद फिर रचनाकार का कार्य समाप्त हो जाता है।

उसके बाद फिर प्रक्रिया का दूसरा मोड़ प्रारम्भ हो जाता है जिसमें रचना सीधे पाठक के समक्ष होती है और रचनाकार बीच से हट जाता है। अब नये प्रश्न उठने लगते हैं : रचना में से पाठक क्या पाता है? क्या कवि ने जो अनुभव किया है उसका संवेदन पाठक को होता है? या वह अनुभव फिर नये सिरे से पाठक के मन में पुनःरचित होता है? या पाठक के मन में कविता से जो जागता है वह कोई तीसरा ही अनुभव है?

बहुत महत्त्वपूर्ण हैं ये प्रश्न – लेकिन इनसे कथा का दूसरा ही चरण प्रारम्भ होता है, जिसमें रचानकार स्वतः तटस्थ जिज्ञासु-मात्र रह जाता है क्योंकि वह अब स्वरचित कृति और पाठक के बीच से हट गया है........

□

प्रमथ्यु गाथा

प्रमथ्यु एक यूनानी पुराण-पुरुष है
जो सृष्टि के आरम्भ में पहली बार
स्वर्ग से, द्युपितर के महलों से मनुष्यों
के त्राण के लिए अग्नि हर लाया था।
दण्डस्वरूप द्युपितर ने उसे एक
शिला से बँधवा दिया था और एक
गिद्ध निरन्तर उसके हृदयपिण्ड को
खाते रहने के लिए तैनात कर दिया
गया था। प्रस्तुत रचना में प्रमथ्यु,
द्युपितर, अग्नि, गृद्ध सभी अपना-
अपना वक्तव्य प्रस्तुत करते हैं।

प्रमथ्यु गाथा

प्रमथ्यु

जकड़े हुए हैं ये मेरे हाथ
लौह शृंखलाओं से
जड़ी हुई जो कीलों से
इस आदिम चट्टान से,

टूटी हुई हैं पसलियाँ
और मन का घाव
अन्दर का सारा दर्द
नंगा अनावृत है

द्युपितर की आज्ञा से
नरभक्षी बूढ़ा गृद्ध
मेरे कन्धों पर बैठ
दिन-भर नोचा करता है मेरा हृदयपिण्ड
और मैं बेबस हूँ
बन्दी हूँ।

मैंने, क्योंकि मैंने ही
प्रथम बार साहस किया
द्युपितर के महलों से अग्नि छीन लाने का

अन्धी घाटी में भयभीत भेड़ के समान
पृथ्वी यह

अँधियारे में थी सहमी खड़ी

मैंने, हाँ मैंने ही प्रथम बार साहस किया

द्युपितर

साहस नहीं था;
मैंने जो नक़शा बनाया था
मानव अस्तित्व का –
उसमें थी दासता,
विनय थी, कायरता थी
भय था, आतंक था
अँधेरा था
यह जो
इस व्यक्ति ने
अँधेरे को देकर चुनौती
दुस्साहस किया
यह मेरी सत्ता का प्रथम अनादर था

मैंने इसे दण्ड दिया
वर्जित थी ज्योति
और गर्हित था स्वातन्त्र्य
साहस उत्पन्न ही नहीं था किया मैंने तब
इसकी यह लायी हुई आग
अगर साहस बन फैल गयी होती मनुष्यों में
फिर वे उठाते सिर
फिर फिर वे उठाते सिर.......

मूरख नहीं हैं जी !
हम क्यों उठाते सिर
हम क्यों ये सब साहस करते व्यर्थ
अग्नि जिसे लाना था ले आया !

अग्नि नहीं थी जब
तब हमने नहीं कहा
कि जाओ अग्नि लाओ तुम
और अग्नि जब आयी
हमने नहीं कहा कि अग्नि नहीं लेंगे हम

यह जो हम अब भी खड़े हैं
प्रमथ्यु के आस-पास –
इसलिए नहीं कि हम कुछ
उसके अनुगामी हैं,

हम हैं तमाशबीन
देख रहे हैं कैसे जकड़ा हुआ है शिलाओं से
कैसे वह कन्धे पर बैठा हुआ गिद्ध
नोच-नोच खाता है उसका हृदयपिण्ड
और रात ढलते-ढलते कैसे
सारा घाव फिर से पुर जाता है
ताकि गिद्ध फिर नोचे

यह है करिश्मा और
हम सब करिश्मों के प्यासे हैं !
चाहता अगर तो हममें से हर एक व्यक्ति
अपने ही साहस से प्रमथ्यु हो सकता था
लेकिन हम डरते थे,

ज्योति चाहते थे
पर दण्ड भोगने से हम डरते थे !

हम सब करिश्मों के प्यासे हैं
कोई भी करिश्मा कर दिखलाये
हम ख़ुद क्यों लें कोई भी निर्णय
हम ख़ुद क्यों भोगें कोई भी दण्ड ?

अग्नि

वे थे सब स्वार्थी
विलासी थे, कायर थे
जिनके महलों में मैं बन्दी थी

मुक्त किया मुझको प्रमथ्यु ने

उसने कहा
तुम हो ज्योति
तुम्हीं जीवन हो

माथे से अपने लगाकर प्रमथ्यु ने
फेंक दिया फिर मुझको इन कायरों के बीच

मुझसे ये
सुबह-शाम चूल्हा सुलगायेंगे
शय्या गरमायेंगे
सोना गलायेंगे
और ज़रा-सा मौक़ा पाते ही
अपने पड़ोसी का सारा घर फूकेंगे !

मुझको क्यों मुक्त किया
मुझको क्यों माथे से लगाकर
फिर फेंक दिया इन कायरों के बीच !

प्रमथ्यु

मुझको मालूम नहीं था कुछ भी
डूबा था सब कुछ अँधियारे में
अँधियारे में मैं भी डूबा था

अग्नि किसे कहते हैं
इसका आभास भी नहीं था मुझे

गिद्ध यह बैठा है जो मेरे कन्धों पर
ऊपर उड़ते-उड़ते पहली बार इसने देखी थी झलक अग्नि की !

साहस था मेरा
किन्तु द्युपितर के महलों की गुप्त राह
इसने बतायी मुझे –
गुरुजन है !
सच है यह
मेरे कन्धों पर बैठ
नोच-नोच खाता है यह मेरा हृदयपिण्ड
फिर भी मेरा मस्तक नत है
होंठों को भींचे निश्शब्द सह रहा हूँ मैं
क्योंकि यह बूढ़ा गृद्ध गुणी है, ज्ञाता है।

मस्तक नत है मेरा
इसलिए नहीं कि हूँ पराजित मैं
इसलिए कि जिनके हित अग्नि जीत लाया हूँ
उनमें नहीं है साहस या संवेदना

जिसमें नहीं है साहस प्रमथ्यु बनने का
उसको बिना पीड़ा के मिल जानेवाली अग्नि
माँजती नहीं है
और पशु ही बनाती है !
अग्नि मिलने पर भी
वे सब पशु के पशु हैं
जिनको नृशंस स्वाद आता है
मेरी इस मर्मान्तक पीड़ा में !
देता है जो बूढ़ा गिद्ध
मेरे ही कन्धों पर बैठकर

गृद्ध

कटु मत हो
सुनो वत्स !
शोभा नहीं देती है कटुता प्रमथ्यु को
सच है यह
मैंने ही प्रेरित किया था तुम्हें देव-अग्नि लाने को
क्योंकि धरा पर नीचे गहरा अँधियारा था

जीवन-भर मैंने आकाश में
निरर्थक चक्कर काटे
ऊँचे पर्वत, उबड़-खाबड़ घाटीवाली
धरती पर कैसे उतरता मैं ?
नीचे अँधियारा था

अब मैं हूँ बूढ़ा
और मेरे थके हैं पंख
कब तक आकाश में विहार करूँ
सिवा तुम्हारे इन सबल पुष्ट कन्धों के और कहाँ बैठूँ मैं ?

कटु मत हो !
आहत है मेरा अहम्
मेरे थे पंख और मैंने देखी थी अग्नि
मैं भी ला सकता था
किन्तु एक थोड़े-से साहस के बग़ैर
मैं अग्नि जीत लाने से वंचित रहा

तुम हो मेरे प्रियजन
मेरा यह आहत अहम्
अगर तुम्हारे मांसपिण्ड से बुझाता है
अपनी भूख
तो तुम क्या इतना भी नहीं सहोगे मेरे लिए

सुनो वत्स !
मुझको यदि मानते हो गुरुजन
तो बात सुनो
सहते चलो सब कुछ
माथे पर शिकन नहीं लाना कभी
मन में घृणा नहीं लाना कभी
घृणा वह ज़हर है
जो नसों में प्रवाहित
रक्त को दूषित करता हैं
और वह रक्त
वह तुम्हारा रक्त
अन्ततोगत्वा मुझको ही तो पीना है !

प्रमथ्यु

पियो !
जी भरकर पियो,

गुरुजन हो
मेरी शिराओं में रक्त बह रहा है तुम्हारा ही
जी भर पियो !

कटु मैं नहीं हूँ
घृणा किससे करूँगा मैं

ये जो जन हैं, साधारण जन हैं
उनमें से एक-एक के अन्दर
मूर्च्छित प्रमथ्यु कहीं बन्दी है !
अवसर जिसे मिला नहीं साहस कर पाने का

कोई तो ऐसा दिन होगा
जब मेरे ये पीड़ा-सिक्त स्वर
उसके मन को बेध मूर्च्छित प्रमथ्यु को जगायेंगे !
उस दिन
हाँ, उस दिन
अकेला मैं रहूँगा नहीं
सबके हृदयों में मैं जागूँगा
मैं – प्रमथ्यु :
कटु मैं नहीं हूँ
घृणा किससे करूँगा मैं ?

□

नया रस

प्रभु
इस रस को
इस नये रस को क्या कहते हैं ?

जिसमें शृंगार की आसक्ति नहीं
जिसमें निर्वेद की विरक्ति नहीं
जिसमें बाँहों के
फूलों-जैसे बन्धन के
आकुल परिरम्भण की गाढ़ी तन्मयता के क्षण में भी
ध्यान कहीं और चला जाता है
तन पिघले फूलों की
आग पिया करता है
पर मन में कई प्रश्नचिह्न उभर आते हैं
यह सब क्या है ?
क्यों है ?
इसके बाद
–और बाद
–और बाद
–और बाद
फिर क्या है ?
चुम्बन आलिंगन का जादू
मन को जैसे ऊपर ही ऊपर से छूकर रह जाता है

अन्दर ज़हरीले अजगर-जैसे प्रश्नचिह्न
एक-एक पसली को जकड़-जकड़ लेते हैं

फिर भी बेक़ाबू तन
इन पिघले फूलों की रसवन्ती आग बिना
चैन नहीं पाता है

प्रभु,
इस रस को
इस नये रस को क्या कहते हैं ?

□

नवम्बर की दोपहर

अपने हलके-फुलके उड़ते स्पर्शों से मुझको छू जाती है
जार्जेट के पीले पल्ले-सी यह दोपहर नवम्बर की !

आयीं गयीं ऋतुएँ पर वर्षों से ऐसी दोपहर नहीं आयी
जो क्वाँरेपन के कच्चे छल्ले-सी
इस मन की उँगली पर
कस जाये और फिर कसी ही रहे
नितप्रति बसी ही रहे, आँखों में, बातों में, गीतों में
आलिंगन में घायल फूलों की माला-सी
वक्षों के बीच कसमसी ही रहे

भीगे केशों में उलझे होंगे थके पंख
सोने के हंसों-सी धूप यह नवम्बर की
उस आँगन में भी उतरी होगी
सीपी के ढालों पर केसर की लहरों-सी
गोरे कन्धों पर फिसली होगी बिन आहट
गदराहट बन-बन ढली होगी अंगों में

आज इस वेला में
दर्द ने मुझको
और दोपहर ने तुमको
तनिक और भी पका दिया
शायद यही तिल-तिल कर पकना रह जायेगा
साँझ हुए हंसों-सी दोपहर पाँखें फैला
नीले कोहरे की झीलों में उड़ जायेगी

यह है अनजान दूर गांवों से आयी हुई
रेल के किनारे की पगडण्डी
कुछ क्षण सँग दौड़-दौड़
अकस्मात् नीले खेतों में मुड़ जायेगी......

□

फागुन के दिन की एक अनुभूति

फागुन के सूखे दिन
क़स्बे के स्टेशन की धूल-भरी राह बड़ी सूनी-सी
ट्रेन गुज़र जाने के बाद
पके खेतों पर ख़ामोशी पहले से और हुई दूनी-सी
आँधी के पत्तों-से
अनगिन तोते-जैसे टूट गिरे
लाइन पर, मेड़ों पर, पुलिया के आस-पास
(सब कुछ निस्तब्ध, शान्त मूर्च्छित-सा........
अकस्मात्—)
चौकन्नी लोखरिया उछली
औ' तेज़ी से तार फाँद लाइन कर गयी क्रास

जैसे शीशे में चटखे दरार
सहसा यह मुझको एहसास हुआ—
यह सब है और किसी का
यह पगडण्डी, यह गाँव-खेत, सुग्गों के हरे पंख,
गति, जीवन :
सबका सब और किसी का
मेरा है केवल निर्वासन, निर्वासन, निर्वासन ....
....

□

उत्तर नहीं हूँ

उत्तर नहीं हूँ
मैं प्रश्न हूँ तुम्हारा ही !

नये-नये शब्दों में तुमने
जो पूछा है बार-बार
पर जिस पर सब के सब केवल निरुत्तर हैं
प्रश्न हूँ तुम्हारा ही !

तुमने गढ़ा है मुझे
किन्तु प्रतिमा की तरह स्थापित नहीं किया
या
फूल की तरह
मुझको बहा नहीं दिया
प्रश्न की तरह मुझको रह-रह दोहराया है
नयी-नयी स्थितियों में मुझको तराशा है
सहज बनाया है
गहरा बनाया है
प्रश्न की तरह मुझको
अर्पित कर डाला है
सबके प्रति

दान हूँ तुम्हारा मैं
जिसको तुमने अपनी अंजलि में बाँधा नहीं
दे डाला !

उत्तर नहीं हूँ मैं
प्रश्न हूँ तुम्हारा ही !

□

जिज्ञासा

मणिशय्या पर जल-बालाओं का प्यार
या सागर का विष-मन्थन अपरम्पार
क्या पायेंगे
प्रभु,
हम क्या पायेंगे ?

आख़िर आयेगा वह दिन
जिस दिन होंठों पर यद्यपि होंगे होंठ
पर खाई होगी हम दोनों के बीच
जिस दिन बाँहों में यद्यपि होगी बाँह
पर सब रस सहसा कोई लेगा खींच

जिस दिन यह सारा आकुल प्रणयोन्माद
रह जायेगा केवल पिछला अभ्यास
जिस दिन यद्यपि तन होगा तन में लीन
पर मुरदा होगी मन की सारी प्यास

उस दिन होगा फिर यह सिद्ध
वैयक्तिक सीमा में बद्ध –
जितना झूठा है यह दुख
उतना ही झूठा है सुख
सुख-दुख इन दोनों के पार
क्या पायेंगे
प्रभु,
हम क्या पायेंगे ?

वैयक्तिक सीमाएँ तोड़
इतिहासों के संग गति मोड़
जिस दिन हम युग-पथ पर जन-जन के साथ
बढ़ते होंगे फिर दृढ़ पग, उन्नत-माथ
हम सबके होंठों पर सामूहिक गीत
गतियों की वल्गा जन-नायक के हाथ
आयेगा ऐसा भी दिन
जब नायक की कोई छोटी-सी भूल
सहसा अभियानों को कर दे पथभ्रष्ट –
युगवाही सपनों पर पड़ जाये धूल
आत्मा में केवल अँधियारा औ' कष्ट;

कूड़े-सा हमको तजकर तट के पास
मन्थर गति से बढ़ जायेगा इतिहास
सामूहिकता भी केवल
साबित होगी जिस दिन छल

अपनी वैयक्तिकता हार
क्या पायेंगे
प्रभु,
हम क्या पायेंगे ?

लेकिन इन दोनों के बीच
मेरे ये तीखे पर एकाकी स्वर
केवल सच्चाई का आश्रय लेकर
गूँजेंगे, या रव में खो जायेंगे
या ये स्वर पहुँचेंगे जन-जन के द्वार

लज्जित माथे पर काँटों का सिंगार
या मंगल-वादन, जयध्वनि, बन्दनवार
क्या पायेंगे
प्रभु,
हम क्या पायेंगे ?

□

संक्रान्ति

सूनी सड़कों पर ये आवारा पाँव
माथे पर टूटे नक्षत्रों की छाँव

कब तक
आख़िर कब तक ?

चिन्तित माथे पर ये अस्तव्यस्त बाल
उत्तर, पच्छिम, पूरब, दक्खिन-दीवाल

कब तक
आख़िर कब तक ?

लड़नेवाली मुट्ठी जेबों में बन्द
नया दौर लाने में असफल हर छन्द

कब तक
लेकिन कब तक ?

□

पराजित पीढ़ी का गीत

हम सबके दामन पर दाग़
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में टूटी तलवारों की मूठ।

हम थे सैनिक अपराजेय
पर हम थे बेबस लाचार
यह था कठपुतलों का खेल
ऊपर थी क़लई, पर लकड़ी के थे सब हथियार !

हम सबके थे अपने गीत
आख़िर तक गाने की शर्त
पर जाने कैसे ऐसे बदले बोल –
हमने गाया कुछ, पर कुछ निकला अर्थ !

तुम क्या जानोगे ओ प्रभु !
उसके मन का कटु विक्षोभ
जिसकी निष्ठा के आगे
गर्हित था छोटे-से छोटे समझौते का लोभ !

तुमने कब झेली संक्रान्ति
तुम क्या समझोगे ओ प्रभु !
इन गत्यवरोधों का दर्द –
कैसे तरुणाई में ही
घुट मर जाते हैं विश्वास
प्राणों की समिधाएँ जमकर हो जाती हैं सर्द !

फिर भी यदि तुमको मंज़ूर
हमको भटकाओ कुछ और
यदि तुमको फिर भी मंज़ूर
सच्चाई की बाँहों में हम सब पायें मत ठौर,

तो कम से कम करुणामय
इतना तो दो ही वरदान
दो हमको फिर झूठे लक्ष्य
दो हमको फिर झूठे युद्धों का झूठा मैदान !

तुम क्या जानोगे ओ प्रभु
संघर्षों के ही अभ्यासी ये प्राण
हो जाते कितने बेचैन
छिन जाते हमसे जब शस्त्र, छिन जाते ईमान !

दो हमको फिर झूठे युद्ध
दो हमको फिर झूठे ध्येय
हारेंगे फिर यह है तय
फिर उसको मानेंगे हम प्रभु की हार
अपने को मानेंगे फिर अपराजेय !

हम सबके दामन पर दाग़
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में टूटी तलवारों की मूठ !

हम सब सैनिक अपराजेय !

□

कौन चरण ?

जिस दिन
अपनी हर आस्था तिनके-सी टूटे
जिस दिन
अपने अन्तरतम के विश्वास सभी निकलें झूठे,

उस दिन होंगे
वे कौन चरण
जिसमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को
मिल पायेगी अन्त में शरण ?

जब हम पर छाये भ्रम दोहरा
जर्जर तन पर कल्मष, हारे मन पर कोहरा
हर एक सूत्र जिसको समझे हम प्रभु का स्वर
कसने पर जिस दिन साबित हो शब्दाडम्बर
हर क़दम पड़े झूठा
जैसे चौसर का पिटा हुआ मोहरा

उस दिन
होंगे वे कौन चरण
जिनमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को
मिल पायेगी अन्त में शरण ?

जिसकी लय पर
साधे हमने आत्मा के स्वर
वे अकस्मात् मुड़ जिस दिन पथ गह लें दूजा
अन्तर में घुटती रह जाये टूटी पूजा
माथे के नीचे रह जाये ठण्डा पत्थर

उस दिन
होंगे वे कौन चरण
जिनमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को
मिल पायेगी अन्त में शरण ?

सब जलने पर जो शेष रहे कण-भर सोना
काँपती उँगलियों से हमको जिस रोज़ पड़े वह भी खोना
अपनी साँसें तक भूलें जब अपना परिचय
पाँवों नीचे तक की धरती जिस रोज न दे हमको आश्रय
जब हमें निगलने दौड़े खुद अपने मन का कोना-कोना

उस दिन
होंगे वे कौन चरण
जिनमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को
मिल पायेगी अन्त में शरण ?

"उस दिन
मैं दूँगा तुम्हें शरण
मैं जनपथ हूँ
मैं प्रभुपथ हूँ, मैं हूँ जीवन
जिस क्षितिज रेख पर पहुँच व्यक्ति की राहें झूठी पड़ जातीं
मैं उस सीमा के बाद पुनः उठनेवाला नूतन अथ हूँ मैं प्रभुपथ हूँ
जिसमें हर अन्तर्द्वन्द्व, विरोध,
विषमता का
हो जाता है अन्त में शमन !"

"प्रभु !
पर तुम तो केवल पथ हो
चलना तो हमको ही होगा
हिम की ठण्डी चट्टानों पर
गलना तो हमको ही होगा
सब टूटे और अधूरे हम

इन जनपथ को
इस प्रभुपथ को
कर पायेंगे किस तरह ग्रहण ?

हमको कुछ ऐसा लगता प्रभु
ऐसे कोई भी नहीं चरण
जिसमें मिल पाये हमें शरण
तुम भी केवल निष्क्रिय पथ हो

चलना तो हमको ही होगा
चलने में ही हम टूटों और अधूरों का
शायद कुछ होगा नया गठन
आश्रय देंगे हमको अपने
जर्जर पर अपराजेय चरण

आखिर होंगे वे यही चरण
जिसमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को
मिल पायेगी अन्त में शरण !"

□

इनका अर्थ

ये शामें, ये सबकी सब शामें........
जिनमें मैंने घबराकर तुमको याद किया
जिनमें प्यासी सीपी-सी भटका विकल हिया
जाने किस आनेवाले की प्रत्याशा में
ये शामें
इनका क्या कोई भी
अर्थ नहीं ?

ये लमहे, ये सारे सूनेपन के लमहे
जब मैंने अपनी परछाहीं से बातें कीं
दुख से वे सारी टूटी वीणाएँ फेंकीं
जिनमें अब कोई भी स्वर न रहे
ये लमहे,
इनका क्या कोई भी
अर्थ नहीं ?

ये घड़ियाँ—ये बेहद भारी-भारी घड़ियाँ
जब मुझको फिर यह एहसास हुआ
अर्पित होने के अतिरिक्त और राह नहीं
जब मैंने झुककर फिर माथे से पन्थ छुआ
फिर बीनी गत-पग-नूपुर से बिखरी मणियाँ
ये घड़ियाँ
इनका क्या कोई भी
अर्थ नहीं ?

ये घड़ियाँ, ये शामें, ये लमहे
जो मन पर कोहरे से जमे रहे
निर्मित होने के क्रम में
क्या
इनका कोई अर्थ नहीं

जाने क्यों कोई मुझसे कहता
मन में कुछ ऐसा भी है रहता
जिसको छू लेनेवाली कोई भी पीड़ा
जीवन में फिर जाती व्यर्थ नहीं !

अर्पित है पूजा के फूलों-सा जिसका मन
अनजाने दुख कर जाता उसका परिमार्जन
अपने से बाहर की व्यापक सच्चाई को
नतमस्तक होकर वह कर लेता सहज ग्रहण

ये सब बन जाते पूजागीतों की कड़ियाँ
यह पीड़ा, यह कुण्ठा, ये शामें, ये घड़ियाँ
इनमें से क्या है
जिसका कोई अर्थ नहीं !
कुछ भी तो व्यर्थ नहीं !

□

गैरिक वाणी

मेरी वाणी
गैरिक वसना
भूल गयी गोरे अंगों को
फूलों के वसनों में कसना
गैरिक वसना
मेरी वाणी !

अब विरागिनी
मेरा निज दुख, मेरा निज सुख
दोनों से तटस्थ रागिनी
अब विरागिनी
मेरी वाणी !

चन्दन-शीतल,
पीड़ा से परिशोधित स्वर में
उभरा एक नवीन धरातल
चन्दन-शीतल
मेरी वाणी

भटके हुए व्यक्ति का संशय
इतिहासों का अन्धा निश्चय
ये दोनों जिसमें पा आश्रय
बन जायेंगे सार्थक समतल

ऐसे किसी अनागत पथ का

पावन माध्यम-भर है
मेरी आकुल प्रतिभा
अर्पित रसना
गैरिक वसना
मेरी वाणी

जल-सी निर्मल
मणि-सी उज्ज्वल
नवल, स्नात
हिम धवल
ऋजु
तरल
मेरी वाणी ।

□

केवल तन का रिश्ता

अब यह जूही के फूलों का तन नहीं रहा

हिरन की छलांगों-जैसा हलका फुर्तीला
लहरों में बल खाती किरनों-सा लचकीला
अब यह जूही के फूलों का तन नहीं रहा
पर जाने क्यों
यह पहले से अधिक सुन्दर है
जाने क्यों इसमें पहले से अधिक जादू है

अब इसमें ममता है
अब इसका रोम-रोम
तृष्णाओं, झगड़ों, समझौतों, मनुहारों की
जाने कितनी मीठी स्मृतियों से बसा हुआ
कितनी बार चिन्ता से जलते हुए माथे को
इस तन से आश्रय मिला
कोमल हमदर्दी मिली
इस तन ने कितनी बार
प्रांजल, पवित्र स्नेह
मेरे हारे आकुल मन पर बिखेरा है
अब इसमें पहले से
कहीं अधिक ममता है
रस है
अपनापन है !

तन का –
केवल तन का रिश्ता भी
मांसलता से कितना ऊपर उठ जाता है

अब यह जूही के फूलों-सा तन नहीं रहा
पर इसमें पहले से कहीं अधिक जादू है !

□

मेघ – दुपहरी

ढल रही है
मेघ की चूनर लपेटे दोपहर
एक उचटा हुआ-सा
सुनसान सन्नाटा अकेला जग रहा है
मेघ-धूमिल दिशाओं की बाँह में !

न जाने क्यों
आज यह अपना
बहुत परिचित बहुत प्यारा शहर
अजनबी, अनजान, अन्यमनस्क-सा लग रहा है
बादलों की नील-जमुनी छाँह में !

वही मैं हूँ
वही मेरा वीतरागी मन
नहीं अब जिसमें किसी से
ख़ास कोई नेह, कोई लगन
किन्तु फिर क्यों चित उचटता काम से ?
क्यों उदासी और बढ़ती शाम से ?

छू गयी मुझको
न जाने कौन बिसरी बात
भूला क्षण
जिस तरह छू जाय नागिन
फूल को खिलते पहर
ढल रही है
मेघ की चूनर लपेटे दोपहर !

□

प्लेटफ़ॉर्म

बहुत उदास-सा पीले गुलाब-सा चेहरा
हथेलियों में टिका हुआ गुमसुम
....
सुनो इतनी अजीब-सी क़िस्मत
ले के पैदा हुए थे क्यों हम तुम ?

□

इतने दिन बाद

एक अनजबी को देख
आँगन में नहाती हुई गौरैया भागी
और झुरमुट में छिपकर व्याकुलता से चहकी;
मुझको पहचान आज
आज इतने दिनों बाद देख
थाले की जूही कुछ डोली, उदासी से महकी;

सिर्फ़ एक तुम थीं
जो हिलीं नहीं, डुलीं नहीं
ज़ीने पर खड़ी रहीं
यादों में डूबी-सी, ख़यालों में बहकी !

□

क़स्बे की शाम

झुरमुट में दुपहरिया कुम्हलायी
खेतों पर अन्हियारी घिर आयी
पश्चिम की सुनहरिया धुँधरायी

टीलों पर, तालों पर,
इक्के-दुक्के अपने घर जानेवालों पर
धीरे-धीरे उतरी शाम !

आँचल से छू तुलसी की थाली
दीदी ने घर की ढिबरी बाली
जमुहाई ले-लेकर उजियाली,

जा बैठी ताखों में
घर-भर के बच्चों की आँखों में
धीरे-धीरे उतरी शाम !

इस अधकच्चे-से घर के आँगन
में जाने क्यों इतना आश्वासन
पाता है यह मेरा टूटा मन
लगता है इन पिछले वर्षों में
सच्चे-झूठे, मीठे-कड़वे संघर्षों में
इस घर की छाया थी छूट गयी अनजाने
जो अब झुककर मेरे सिरहाने—
कहती है :
"भटको बेबात कहीं !
लौटोगे अपनी हर यात्रा के बाद यहीं !"

धीरे-धीरे उतरी शाम !

□

धूल-भरी आँधी का गीत

ओ रे
धूल-भरे पवन झकोरे !

तेरे हाथों बिलकुल बेबस हूँ मैं
जैसे चाहे तूने हरदम खींचे डोरे !

आज गया तू पिछली यादें झकझोर–
पहला-पहला घायल मन, वय कैशोर
ऐसी थी, बिलकुल ऐसी ही थी शाम
सूने चौराहों पर आँधी का शोर....

आँधी-सी ही थी जो निकल गयी
शेष रहे उखड़े बिरवे, टूटी डार
उस दिन जो बहका तो आज तक
न पहुँच सका मैं अपने ही घर के द्वार
झूठे आलिंगन से, झूठे आलिंगन तक

यूँ मैं भटका कितनी बार !
अब तो पग जर्जर, राहें नामालूम
आ मेरे बालों को बिखराकर चूम
मुझपर कर टूटे पत्तों की बौछार
कसकन से भर मेरी पलकें मासूम

जाने क्या है तुझमें जिसके आगे फीके
लगते हैं अंगों के जादू गोरे....

पतझड़ की संझा को
पाहुन बनकर आ,
ओ सूखे मुँह, धूल-भरे पवन झकोरे !

ओऽऽऽरे !

□

आँगन

बरसों के बाद उसी सूने-से आँगन में
जाकर चुपचाप खड़े होना
रिसती-सी यादों से पिरा-पिरा उठना
मन का कोना-कोना

कोने से फिर उन्हीं सिसकियों का उठना
फिर आकर बाँहों में खो जाना
अकस्मात् मण्डप के गीतों की लहरी
फिर गहरा सन्नाटा हो जाना
दो गाढ़ी मेंहदीवाले हाथों का जुड़ना,
कँपना, बेबस हो गिर जाना

रिसती-सी यादों से पिरा-पिरा उठना
मन का कोना-कोना
बरसों के बाद उसी सूने-से आँगन में
जाकर चुपचाप खड़े होना !

□

अवशिष्ट

दुख आया
घुट-घुटकर
मन-मन में खीज गया

सुख आया
लुट-लुटकर
कन-कन में छीज गया

क्या केवल
इतनी पूँजी के बल
मैंने जीवन को ललकारा था

वह मैं नहीं था, शायद वह
कोई और था
उसने तो प्यार किया, रीत गया, टूट गया
पीछे मैं छूट गया

□

उपलब्धि

मैं क्या जिया ?
मुझको जीवन ने जिया –
बूँद-बूँद कर पिया, मुझको
पीकर पथ पर ख़ाली प्याले-सा छोड़ दिया

मैं क्या जला ?
मुझको अग्नि ने छला –
मैं कब पूरा गला, मुझको
थोड़ी-सी आँच दिखा दुर्बल मोमबत्ती-सा मोड़ दिया

देखो मुझे
हाय मैं हूँ वह सूर्य
जिसे भरी दोपहर में
अँधियारे ने तोड़ दिया !

□

स्वयम् को दुहरायेगा ?

प्यार यह क्या अब कभी भी स्वयम् को दुहरायेगा ?
नहीं ! शायद नहीं

होंठ पर अब होंठ जब भी आयेगा
आँसुओं का वही खारा स्वाद फिर-फिर पायेगा

हाथ में जब हाथ कोई आयेगा
उष्ण ममता नहीं केवल एक खालीपन उसे छू जायेगा

बाँह में जब जिस्म कोई आयेगा
बीच में तुमको सिसकता पायेगा

प्यार यह क्या अब कभी भी स्वयम् को दुहरायेगा
नहीं ! शायद नहीं

□

साबुत आइने

इस डगर पर मोह सारे तोड़
ले चुका कितने अपरिचित मोड़

पर मुझे लगता रहा हर बार
कर रहा हूँ आइनों को पार

दर्पणों में चल रहा हूँ मैं
चौखटों को छल रहा हूँ मैं

सामने लेकिन मिली हर बार
फिर वही दर्पण मढ़ी दीवार

फिर वही झूठे झरोखे द्वार
वही मंगल चिह्न बन्दनवार

किन्तु अंकित भीत पर, बस रंग से

× × ×

अनगिनत प्रतिबिम्ब हँसते व्यंग से

फिर वही हारे क़दम की होड़
फिर वही झूठे अपरिचित मोड़

लौटकर फिर लौटकर आना वहीं
किन्तु इससे छूट भी पाना नहीं

टूट सकता, टूट सकता काश
यह अजब-सा दर्पणों का पाश

दर्द की यह गाँठ कोई खोलता
दर्पणों के पार कुछ तो बोलता

यह निरर्थकता सही जाती नहीं
लौटकर, फिर लौटकर आना वहीं

राह में कोई न क्या रच पाऊँगा
अन्त में मैं क्या यही बच जाऊँगा

बिम्ब कुछ आइनों में भटका हुआ
चौखटों के क्रास पर लटका हुआ

□

रात अँधियारी : हवा तेज़

दीख नहीं पड़ते हैं पेड़,
मगर डालों से ध्वनियों के
अगणित झरने झरते झर-झर
तेज़ और मन्द
हर झकोरे के संग
हवा चलती है और ठहर जाती है !

सन्नाटा :
गूँगे के अनबोले वाक्य-सा –
जाग्रत् है यह मेरा मन
पर निरर्थक है !
ट्रेन ने सीटी दी........
दूर कहीं लोग अभी जीवित हैं
चलते हैं; यात्राएँ करते हैं; मंज़िल है उनकी !

याद पड़ता है कभी
बहुत सुबह पौ फटने के पहले
मैंने भी एक यात्रा की थी।
कच्ची पगडण्डी पर
दोनों ओर सरपत के झाड़ों में
इसी तरह,
तेज़ हवा चलती थी और ठहर जाती थी........

सीटी फिर बोली........
सुनो ! मेरे मन हारो मत !
दूर कहीं लोग अभी जीवित हैं;
यात्राएँ करते हैं, मंज़िल है उनकी

□

रात :
पर मैं जी रहा हूँ निडर
जैसे कमल
जैसे पन्थ
जैसे सूर्य

क्योंकि
कल भी हम खिलेंगे
हम चलेंगे
हम उगेंगे

और
वे सब साथ होंगे
आज जिनको रात ने भटका दिया है !

□

निर्माण-योजना

[कविता की मिनिस्ट्री द्वारा प्रस्तुत]

बाँध

बाँधो !
नदी यह घृणा की है
काली चट्टानों के

सीने से निकली है
अन्धी जहरीली गुफाओं से
उबली है !
इसको छूते ही
हरे वृक्ष सड़ जायेंगे
नदी यह घृणा की है :

लेकिन नहीं है निरर्थक यह
बँधने से इसको भी अर्थ मिल जाता है।
इसकी ही लहरों में
बिजली के शक्तिवान् घोड़े हैं सोये हुए !
जोतो उन्हें खेतों में, हलों में –
भेजो उन्हें नगरों में, कलों में –

बदलो घृणा को उजियाले में
ताक़त में,
नये-नये रूपों में साधो –
बाँधो –
नदी यह घृणा की है !

यातायात

बिना किसी बाधा के
नित नयी दिशाओं में
जाने की
सुविधा दो

बिना किसी बाधा के
श्रम के पसीने से
सिंची हुई फ़सलों को
खेतों से आँतों तक जाने की
सुविधा दो

बिना किसी बन्धन के
हर चलते राही को
यात्रा में
अकसर थक जाने पर
मनचाहे नये गीत गाने की
सुविधा दो

कभी-कभी अजब-सी रहस्यमय पुकारों पर
मन को अपरिचित नक्षत्रों की राहों में
जाकर खो जाने की सुविधा दो !

कृषि

ये फ़सलें काटो........
पिछले ज़माने में
बीज जो बोये विषमता के
आज वही साँपों की खेती उग आयी है !

धरती को फिर से सँवारो
क्यारी में बीज नये डालो

पसीने के, आंसू के
प्यार के, हमदर्दी के
मेंड़ें मत बांधो
भूमि सबकी,
दर्द सबका है !

स्वास्थ्य

वे सब बीमार हैं
वे जो उन्मादग्रस्त रोगी-से
मंचों पर जाकर चिल्लाते हैं
बकते हैं
भीड़ में भटकते हैं

वात पित्त कफ के बाद
चौथे दोष अहम् से पीड़ित हैं !

बस्ती-बस्ती में
नये अहम् के अस्पताल खुलवाओ
वे सब बीमार हैं
डरो मत—तरस खाओ !

□

.गुलाम बनानेवाले

और भी पहले वे कई बार आये हैं

एक बार
जब उनके हाथों में भाले थे
घोड़ों की टापों से ख़ैबर की चट्टानें काँपी थीं

एक बार
जब भालों के बजाय
उनके हाथों में तिजारती परवाने थे
बग़ल में संगीनें थीं
लेकिन इस बार और चुपके से आये हैं

आधे हैं, जिनके हाथों में हैं
कैमरे,
थैलियाँ,
टूअरिस्ट पासपोर्ट,
रंग-बिरंगी फ़िल्में :

आधे हैं जिनके पास
रंग-बिरंगे चेहरे
[जिनको वे हुक्म के मुताबिक़ बदल सकते हैं]
दो-दो आनेवाले
[दूर किसी नगरी में छपे हुए]
पैम्फ़्लेट,
रोटी और पैम्फ़्लेट के ढेरों में ढँक-ढँककर आयी हैं

दूर किसी नगरी में ढली हुई ज़ंजीरें !

ढंग है नया
लेकिन बात यह पुरानी है :
घोड़ों पर रखकर, या थैली में भरकर,
या रोटी से ढँककर, या फ़िल्मों में रँगकर
वे ज़ंजीरें, केवल ज़ंजीरें ही लाये हैं

और भी पहले वे कई बार आये हैं !

□

एक वाक्य

चेक बुक हो पीली या लाल,
दाम सिक्के हों या शोहरत–
कह दो उनसे
जो खरीदने आये हों तुम्हें
हर भूखा आदमी बिकाऊ नहीं होता है !

□

मिथ्या था जामुन के कुंजों से आच्छादित
शोण का निचाट कूल
मिथ्या था फागुन में गुच्छों-गुच्छों फूला
इंगुरी अशोक-फूल

मिथ्या था, स्मृति के अन्तरिक्ष में लुकता-छिपता हुआ
भट्टिनी का म्लान मुख
मिथ्या था, अपने को किसी महाराग को समर्पित कर
डूब-डूब जाने का अतीन्द्रिय सुख

सत्य है एक मणिजटित दुपट्टा, एक
मुद्रा-मंजूषा, एक पालकी !
सत्य हैं आत्मा पर थोपी हुई सीमाएँ
सोने के जाल की !
सत्य है कूटज्ञों, वधिकों, नगरसेठों, वेश्याओं के आगे
बिके हुए शब्दों की यह क्रीड़ा
सत्य है राजा हर्षवर्धन के हाथों से मिला हुआ
पान का सुगन्धित एक लघु बीड़ा

[चाहे वह जूठा हो,
पर उसपर लगा हुआ वक़ंदार सोना था !
हाय बाणभट्ट ! हाय !
तुमको भी, तुमको भी, आखिर यही होना था !]

□

बृहन्नला

आज से सौ बरस बाद
मेरी रचनाएँ पढ़कर तुम यह जानोगे
इस संकटकाल में तो अर्जुन एक मैं ही था
अन्यायी हृदयों में सालती टंकारें थीं जिसके गाण्डीव की !
मैं ही दृष्टिहीनों की दुनिया में
आँखें खोल देखता रहा था यथार्थ को !

किन्तु यदि वर्षों बाद मेरी रचनाएँ पढ़ने की जगह
मुझको आज देखो तुम—
तो कैसा लगेगा तुम्हें
मुझको यह जानने का कुतूहल है !

युद्धक्षेत्र, कर्मक्षेत्र में मुझको ढूँढ़ोगे व्यर्थ तुम
आज तो मिलूँगा मैं तुमको पराये अन्तःपुर में
चाटुकार विद्वानों मूर्खा महिषियों
अशिक्षित विदूषकों से घिरा हुआ

मैं जो हूँ नृपति विराट् का विश्वस्त दास
नृत्य, गीत, कविता, कलाओं का ज्ञाता,
किन्तु हरदम भयाक्रान्त—
मेरा अज्ञातवास खुल न जाय
छिन न जाय मेरी आजीविका इसी भय से
पीछे सभी को धोखा देकर
सामने सभी के झूठी क़समें खाता हुआ ।

कानों तक प्रत्यंचा खींचने के लिए ख्यात
मेरी भुजाएँ ये
मिलेंगी हर छोटे से छोटे दरबारी के सामने
प्रणाम से झुकी हुईं;
पाओगे तुम मेरा ओजस्वी सैनिक तन
कुत्सित नपुंसक मुद्राओं में ढला हुआ;
मेरा विख्यात धनुष
तुमको मिलेगा किसी निर्जन तरु-शाखा पर
मुरदा चिमगादड़-सा टँगा हुआ !

व्यास यह लिखेंगे कि
अन्यायी दुर्योधन जब हमला बोला था विराट् नगरी पर
मैंने भी अपना प्रदर्शित किया था शौर्य !

कैसा लगेगा तुम्हें
जब तुम यह जानोगे
कि यह तो लिखाया था मैंने ही
सुबह-शाम जा-जाकर
दुःख की गाथा गाकर
पांवों पड़-पड़ बूढ़े व्यास के !

असल में हुआ यह था
मेरे चारों भाई जूझते अकेले रहे
मैं तो किनारे खड़ा हर आनेवाले से
घबराकर कहता था – "इधर मत,
इधर मत, इधर मत, आना जी तुम; इधर हम तटस्थ हैं !"

कैसा लगेगा तुम्हें
जब तुम यह जानोगे
कि मैं तो गया था वहाँ
लड़ने के लिए नहीं—
रक्त-सने, बेबस, दम तोड़ते शवों के

गहने कपड़े लूटने के लिए !

कैसा लगेगा तुम्हें
जब तुम यह जानोगे
कि दूसरे जब जूझ रहे थे नवयुग लाने को
मैंने सिर्फ़ उत्तरा की गुड़ियाँ सजायी थीं !

□

टूटा पहिया

मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत !

क्या जाने कब
इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय !

अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
बड़े-बड़े महारथी
अकेली निहत्थी आवाज़ को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में
ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ !
मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ

लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति
सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले !

□

एक अवतार में

सुनते हैं तुम किसी अवतार में कछुए थे

अपनी इस वज्रोपम पीठ पर
तुमने यह धरती टिकायी थी –
[लेकिन उपयोग क्या किया था
सुकोमल मर्मस्थल का ?

उससे क्या नीचे उतर
थाहा था अनस्तित्व का सागर
पतनोन्मुख होकर

दिग्भ्रम, निराशा, भटकन
सीलन, कीचड़, काई
पाप, उबकाई—
के स्तर छुए थे ?]

याद करो प्रभु,
जब तुमने पीठ पर
धरती उठायी थी –
सबका बोझ
अपने पर लेने की
ताक़त कहाँ पायी थी ?

□

दान : प्रभु के नाम !

राह पर बिछाये हैं
मैंने जो –
तीखे नुकीले – ये
पूजा के फूल नहीं
शीशे के टुकड़े हैं –

पाँवों में गड़ेंगे जब
सामने पड़ेंगे जब

तुमको दिखायेंगे
कुछ टूटी शकलें
प्रभुताई, मसीहाई
की भोंड़ी नक़लें

देख जिन्हें ग़ुस्से से उबलता हूँ
उबलता हूँ
उबलता हूँ
कर तो कुछ सकता नहीं !

[क्रोध अभिमान भी मुझी को अर्पित कर दो
तस्मिन्नेव करणीयं क्रोधमानादिकम्]
तुम भी कहोगे क्या
आओ !
सब कुछ खोया है जब मैंने

एक-एक कर
मोह क्या इसी का करूँ ?
क्रोध, अभिमान का ?
इसको भी माँगते हो ?
ले जाओ !

□

अर्द्ध-स्वप्न का नृत्य

दीपक की लौ काँपी
परदों में लहर पड़ी

शीशे में अनजाने तन के आभास हिले
अनदेखे पग में जादू के घुँघरू छमके
क़ालीनों के ऊनी फूल दबे और खिले
थाप पड़ी पहले कुछ तेज़ी से, फिर थमके

किसने छेड़ी पिछले
जनमों में सुनी हुई
एक किसी गाने की
पहली रंगीन कड़ी

अगहन के कोहरे से निर्मित हलके तन के
टोने सहसा जैसे कमरे में घूम गये –
हाथों में ताज़ी कलियों के कँगने खनके
कन्धों पर वेणी के फूलसाँप झूम गये

दीपक के हिलते
आलोकों को छेड़ गयीं
चम्पे की लहराती
बाँहें बड़ी - बड़ी

इन बहकी घड़ियों की गहरी खामोशी में
जाने कब रात हुई जाने कब बीत गयी
मन के अँधियारे में उभरे धीमे-धीमे
रंगों के द्वीप नये, वाणी की भूमि नयी

मणियों के कूल नये
जिन पर हम भूल गये
लक्ष्यहीन यात्राओं की
वह सुनसान घड़ी

नर्तन यह खींच कहाँ मुझको ले जायेगा
क्या ये सब पिछली तट-रेखाएँ छूटेंगी
या दीपक गुल होगा उत्सव थम जायेगा
गीतों की सब कड़ियाँ सिसकी में टूटेंगी

जाने क्या होना है ?
सच है या टोना है ?
या यह भी खोना है ?
छलना की एक लड़ी !

दीपक की लौ काँपी
परदों में लहर पड़ी

□

बातें

सपनों में डूबे-से स्वर में
जब तुम कुछ भी कहती हो
मन जैसे ताज़े फूलों के झरनों में धुल जाता है
जैसे गन्धर्वों की नगरी में गीतों से
चन्दन का जादू-दरवाज़ा खुल जाता है

बातों पर बातें, ज्यों जूही के फूलों पर
जूही के फूलों की परतें जम जाती हैं
मन्त्रों में बँध जाती हैं ज्यों दोनों उम्रें
दिन की ढलती रेशम-लहरें थम जाती हैं !

गोधूली में चरवाहों की वंशी जैसे
शब्द कहीं दूर, कहीं दूर अस्त होते हैं

ख़ामोशी छाती है
एक लहर आती है
सहसा दो नीरव होठों की सार्थकता
दो कँपते होठों तक आने में रह जाती है !

□

साँझ के बादल

ये अनजान नदी की नावें
जादू के-से पाल
उड़ाती
आतीं
मन्थर चाल !

नीलम पर किरनों
की साँझी
एक न डोरी
एक न माँझी
फिर भी लाद निरन्तर लातीं
सेन्दुर और प्रवाल !

कुछ समीप की
कुछ सुदूर की
कुछ चन्दन की
कुछ कपूर की
कुछ में गेरू, कुछ में रेशम
कुछ में केवल जाल !

ये अनजान नदी की नावें
जादू के-से पाल
उड़ाती
आतीं
मन्थर चाल...

□

यह ढलता दिन

यह ढलता दिन, बिखरे बादल, बेहद डूबा-डूबा-सा जी
जैसे कोहरे में डूबी हो रंगीन गुलाबों की घाटी
अनजान दिशाओं में जाती यह श्याम घटाओं की रेखा
मटमैले आँचल पर मोती-सा
चाँद ढलक आया लेकिन—
मैंने जो आँसू पोंछ लिया, किसने जाना ? किसने देखा ?

नावों ने लंगर डाल दिये, घाटों पर सन्ध्या-दीप जले
मेले से सब राही लौटे, अपनी-अपनी चौपाल तले
गहना गुरिया, पंखे डलिया, टिकुली बेंदी, सेन्दुर सारी-
सोरह सिंगार सजे; सब गाँव
उनींदा हो आया लेकिन –
सुनसान कछारों से मुझको आवाज़ किसी ने सहसा दी

आवाज़ मगर वह झूठी थी, नावें झूठीं, मेले झूठे –
ये बादल शक्ल बदलते हैं, बादल उमड़े, बादल टूटे
जी टूटा-सा था बहक गया, यह बादल का ताना-बाना
कुछ गाँव बसे, कुछ गाँव मिटे
बाँहों में चुपके से लेकिन –
मैंने जो आँसू पोंछ लिया, किसने देखा ? किसने जाना ?

यह बादल का ताना-बाना
बेहद डूबा-डूबा-सा जी
जैसे कोहरे में डूबी हो
रंगीन गुलाबों की घाटी

□

धुँधली नदी में

आज मैं भी नहीं अकेला हूँ
शाम है, दर्द है, उदासी है

एक ख़ामोश साँझ-तारा है
दूर छूटा हुआ किनारा है
इन सबों से बड़ा सहारा है
एक धुँधली अथाह नदिया है
और बहकी हुई दिशा-सी है

नाव को मुक्त छोड़ देने में
और पतवार तोड़ देने में
एक अज्ञात मोड़ लेने में
क्या अजब-सी, निराश-सी,
सुख-प्रद, एक आधारहीनता-सी है

प्यार की बात ही नहीं साथी
हर लहर साथ-साथ ले आती
प्यास ऐसी कि बुझ नहीं पाती,
और यह जिन्दगी किसी सुन्दर
चित्र में रंगलिखी सुरा-सी है

शाम है, दर्द है, उदासी है
आज मैं भी नहीं अकेला हूँ

□

शाम : दो मनःस्थितियाँ

एक :

शाम है, मैं उदास हूँ शायद
अजनबी लोग अभी कुछ आयें
देखिए अनछुए हुए सम्पुट
कौन मोती सहेजकर लायें
कौन जाने कि लौटती बेला
कौन-से तार कहाँ छू जायें !

बात कुछ और छेड़िए तब तक
हो दवा ताकि बेकली की भी,
द्वार कुछ बन्द, कुछ खुला रखिए
ताकि आहट मिले गली की भी –

देखिए आज कौन आता है –
कौन-सी बात नयी कह जाये,
या कि बाहर से लौट जाता है
देहरी पर निशान रह जाये,
देखिए ये लहर डुबोये, या
सिर्फ़ तटरेख छू के बह जाये,

कूल पर कुछ प्रवाल छुट जायें
या लहर सिर्फ़ फेनवाली हो
अधखिले फूल-सी विनत अंजुली
कौन जाने कि सिर्फ़ खाली हो ?

दो :

वक़्त अब बीत गया बादल भी
क्या उदास रंग ले आये,
देखिए कुछ हुई है आहट-सी
कौन है ? तुम ? चलो भले आये !
अजनबी लौट चुके द्वारे से
दर्द फिर लौटकर चले आये

क्या अजब है पुकारिए जितना
अजनबी कौन भला आता है
एक है दर्द वही अपना है
लौट हर बार चला आता है

अनलिखे गीत सब उसी के हैं
अनकही बात भी उसी की है
अनउगे दिन सभी उसी के हैं
अनहुई रात भी उसी की है
जीत पहले-पहल मिली थी जो
आखिरी मात भी उसी की है

एक-सा स्वाद छोड़ जाती है
ज़िन्दगी तृप्त भी व प्यासी भी
लोग आये गये बराबर हैं
शाम गहरा गयी, उदासी भी !

□

अँधेरे का फूल

रात आधी बीतने पर
डूब जाता चाँद
एक बहुत विशाल जादू-फूल खिलता है
अँधेरे का..................
गली, आँगन, छत, मुँडेरों से
काँपती काली पँखुरियाँ उभरती हैं

कुछ अँधेरी, कुछ उजागर
ये कई गलियाँ
दीखती हैं उस बड़े फूल से उलझी
तुम्हारी गोर-साँवर उँगलियाँ

और मेरा मन
कभी उस फूल के अन्दर कभी बाहर
भटकता है–
उस भ्रमर-सा
फूल ने जिनको न रक्खा क़ैद
लेकिन मुक्त भी छोड़ा नहीं !

□

यादों का बदन

यादों का बना हुआ बदन.......

काँपते अँधेरे में
बाँहों के घेरे में
चुपके से आकर सो जाता है

छाया की रेखा-सा
बिलकुल अनदेखा-सा
साँसों में बसता है
अंग-अंग कसता है
रसभीने बन्धन में
करवट लेता है—खो जाता है

यादों का बना हुआ बदन........

□

आँगन-बेली

फूली है आँगन की बेल

ओसधुला एक गझिन गुच्छा
अनजाने में
कोहनी से छू गया

पहले भी ऐसा होता था बहुधा
लेकिन
आज जगा एक अजब संवेदन
बिजली-सा नया-नया.......

वह भी थी आँगन की बेल
किन्तु
महक रही आज बड़ी दूर से
आज गझिन गुच्छे फूले होंगे
धुले हुए—
चन्दन से, आँसू से, ओस से, कपूर से !

□

ढीठ चाँदनी

आज-कल तमाम रात
चाँदनी जगाती है

मुँह पर दे-दे छींटे
अधखुले झरोखे से
अन्दर आ जाती है
दबे पाँव धोखे से

माथा छू
निंदिया उचटाती है
बाहर ले जाती है
घण्टों बतियाती है
ठण्डी-ठण्डी छत पर
लिपट-लिपट जाती है
विह्वल मदमाती है
बावरिया बिना बात !

आजकल तमाम रात
चाँदनी जगाती है

□

दिन ढले की बारिश

बारिश दिन ढले की
हरियाली–भीगी, बेबस, गुमसुम
तुम हो

और,
और वही बलखायी मुद्रा
कोमल शंखवाले गले की
वही झुकी मुँदी पलक सीपी में खाता हुआ पछाड़
बेज़बान समन्दर

अन्दर
एक टूटा जलयान
थकी लहरों से पूछता है पता
दूर–पीछे छूटे प्रवालद्वीप का

बांधूगा नहीं
सिर्फ़ कांपतीं उँगलियों से छू लूँ तुम्हें
जाने कौन लहरें ले आयी हैं
जाने कौन लहरें वापस बहा ले जायेंगी

मेरी इस रेतीली वेला पर
एक और छाप छूट जायेगी
आने की, रुकने की, चलने की

इस उदास बारिश की
पास-पास चुप बैठे
गुमसुम दिन ढलने की !

□

शाम : एक थकी लड़की

नींद-भरी, तरलायित, बड़री, कटावदार आँखें मूँद
शाम–
एक सफ़र में थकी हुई लड़की-सी
आयी और मेरे पास बैठ गयी :

बैठी रही गुमसुम : धीमे
से उठी,
और कसे हुए अंग ढील
उतर गयी
गुनगुनी धूप की नदी में

साँवला सलोना जिस्म
कुछ क्षण लहरों के हिलकोरों पर
काँपा
फिर घुलने लगा—
घुलने लगा पानी की लपटों में
नीली मोमबत्ती-सा !

ओ जल-निमग्ना !
ओ लहर-विह्वल !
अपने को थामो, सँभालो—

मैं हूँ नदी तल की रेत ।
अर्पित हूँ,
लेकिन किसी भी क्षण पाँवों तले से
बह जाऊँगा

□

अन्तहीन यात्री

बिदा देती एक दुबली बाँह-सी
यह मेड़
अँधेरे में छूटते चुपचाप
बूढ़े पेड़

खत्म होने को न आयेगी कभी क्या
एक उजड़ी माँग-सी यह धूल धूसर राह ?
एक दिन क्या मुझी को पी जायेगी
यह सफ़र की प्यास, अबुझ, अथाह ?

क्या यही सब साथ मेरे जायेंगे
ऊँघते क़स्बे, पुराने पुल ?
पाँव में लिपटी हुई यह धनुष-सी दुहरी नदी
बींध देगी क्या मुझे बिलकुल ?

□

एक छवि

छिन में धूप
छाँह छिन ओझल,
पल-पल चंचल–
गोरी दुबली, बेला उजली, जैसे बदली क्वार को

सुबुक हठीली,
हरी पर्त में
हलकी नीली
आग लपेटे–एक कली कचनार की

दखिन पवन में
झोंके लेती डार की
लहर–बदन में

जिसने आकर
कर दी है
छवि और उजागर
मेरे छोटे फूलबसे घर, धूपधुली छत, छाँहलिपी दीवार की !

□

चैत का एक दिन

सूरज में नहाये हुए
नीले कमल-सा यह चैत का नशीला दिन
मैंने बिताया नहीं
केवल गुज़ार दिया....

बेसुध तुम्हारे पास बैठे हुए
रूखी तुम्हारी मुक्त वेणी को
उँगली में बार-बार प्यार से लिपटाकर
अनबाँधे छोड़ दिया

निंदियारी आँखों से
बार-बार देखने की कोशिश की–
देखा नहीं;
बौर लदी नाज़ुक टहनी-सी इस देह की
हलकी गरमाई को केवल महसूस किया,
जाना नहीं :

शाम हुई :
केवल तुम्हारी रूपगन्ध में पगा मन
टूट-टूट रह-रह अलसाने लगा
मैंने कुछ नहीं किया
धीमे से तुम्हारे माथे पर झुके
रूखे हठीले एक कुन्तल को
होंठों से सँवार दिया

सुनो
सच बतलाना
क्या तुमको कभी भी
किसी ने भी
इतना उजला, कोमल, पारदर्शी प्यार दिया ?

□

फूल, सागर, सीपी

[तुम्हारे हाथों में लाल फूलों का एक
गुच्छा देखकर]

फूल
का अधखिला अन्तस्
एक रंगीन लहराता अतृप्त सागर है—
तुम्हारी मुलायम उँगलियों के तटों से
बेबस-सा टकराकर बार-बार अपने में
वापस लौट आता है

कुछ भीगी मणियाँ
कुछ आँसू-सा खारा फेन
किसी निर्वसना जलपरी का लज्जाभीत कम्पन
नियति के टुकड़ों-सा
छूट-छूट जाता है
मुट्ठी में तुम्हारी

क्वाँरी,
हलकी, रतनारी सीपी-से
दो पतले होंठ
आतुर हिलकोरों में रह-रहकर कँपते हैं

क्या यह उमड़ता, अमर्यादित, व्याकुल ज्वार
इन पतले होंठों में बँधकर
सिमट जायेगा
स्वाती की केवल एक बूँद-सा पकने को –

पीड़ा में गहरे डूबकर मोती रचने को –
सब कुछ टूट जाने पर भी अटूट बचने को –

कोमल तुम्हारी उँगलियों में
खिलने को आतुर
एक बँधा फूल सागर का ?

□

दूसरे दिन सुबह

शेष है अब भी हवाओं में
एक हलकी लहर लेती महक
उस खिलते गुलाबी जिस्म की
प्यार से नीले पड़े रतनार होंठों की खनक
पत्तियों में शेष है अब भी
अभी तक उलझा हुआ है
साँस की हर गुंजलक में
वह लहर पर लहर लेता रूप
मृदुल कुछ-कुछ गुनगुने-से देह के स्पर्श से
अब भी घुली है सुबह की बारीक कच्ची धूप !

वह तुम्हें पाने न पाने की अजब-सी टीस
रीती नहीं–रीती नहीं
शाम में घुलती हुई वह फूल-सी दुपहर
बीतकर भी अभी बीती नहीं—बीती नहीं

□

अँजुरी भर धूप

अँजुरी भर धूप-सा
मुझे पी लो !
कण-कण
मुझे जी लो !

जितना हुआ हूँ आज तक मैं किसी का भी–

बादल नहायी घाटियों का,
पगडण्डी का,
अलसायी शामों का,
जिन्हें नहीं लेता कभी उन भूले नामों का,

जिनको बहुत बेबसी में पुकारा है
जिनके आगे मेरा सारा अहम् हारा है,
गजरे-सी बाँहों का
रंग रचे फूलों का,
बौराये सागर के ज्वार-धुले कूलों का,
हरियाली छाँहों का
अपने घर जानेवाली प्यारी राहों का –

जितना इन सबका हूँ
उतना कुल मिलाकर भी थोड़ा पड़ेगा
मैं जितना तुम्हारा हूँ

जी लो
मुझे कण-कण
अँजुरी भर
पी लो !

घाटी का बादल

जाने कब, किस गुहानीड़ से उड़कर गुपचुप
मेघधूम का योजन विस्तृत पक्षी सहसा
प्रकट हो गया घाटी के सुदूर छोर पर
गहरे भूरे, मीलों लम्बे डैने खोले........

प्रातधूप की ज़रतारी ओढ़नी लपेटे
अभी-अभी जागी
ख़ुमार से भरी
नितान्त कुमारी घाटी
इस कामातुर मेघधूम के
औचक आलिंगन में पिसकर
रतिश्रान्ता-सी मलिन हो गयी !

थका हुआ बादल
पश्चिम के श्याम निरावृत शिखरों पर
शीतल कपोल धर
क्षण-भर गहरी नींद सो गया;

धीरे-धीरे
मूर्च्छित घाटी में जैसे कुछ साँसें लौटीं
अलस झकोरे, देवदारु में, चीड़कुंज में
गन्ध लदे-मादक भीगे-से

मेघधूम ने करवट ली–
अँगड़ाई में ज्यों
सौ-सौ गहरे भूरे डैने आगे पसरे,

उड़े,
खड़े पर्वत शिखरों से टकराकर
मड़राये
मुड़े–
कटानों में
दर्रों में भटके
फिर ढालों पर धीमे-धीमे हाँफ-हाँफकर चढ़ने लगे
बटोही-जैसे !

जहाँ अभी घाटी थी लहरधारियोंवाली
हरे खेत थे
लाल छतोंवाले छोटे पर्वती गाँव थे
वहाँ नहीं है कुछ भी अब
वह जादू था
वह इन्द्रजाल था
लुप्त हो गया !
सच है केवल मेघधूम यह
ढालों से टकराते क्षोर-महासागर-सा
फेंक रहा है उजला फेना

लाल छतोंवाले छोटे पर्वती गाँव
या हरे खेत
या लहरधारियोंवाली घाटी
ये थे केवल मूँगा मछली सीप सिवारें
जो धाराओं की उछाल में ऊपर आये
कुछ क्षण ऊपर तैरे फिर जलमग्न हो गये !

नीचे मेघधूम का सूना-सूना सागर
ऊपर केवल नभ
गुमसुम-सा, उदासीन-सा
और बीच में निराधार-सा बिना नींव का पूरा पर्वत !

कैसे अचल खड़ा है
क्या यह भी जादू है ?

ढालों पर चुपचाप खड़े हैं
बाँझों के छितरे-छितरे वन !
उलटी हुई पुतलियों-जैसे
बाँझों के नोकीले पत्ते
उलटे औ' फिर
श्वेत हो गये !

नीचे के कंटक झाड़ों में अटक-अटककर
ऊपर चढ़ता जाता है अजगर-सा बादल
तने, डालियाँ, पत्ते पहले भूरे पड़ते,
लगता जैसे पीछे हटते
धीरे-धीरे पुँछी लकीरों-से मिट जाते !

कुछ भी नहीं रहा
उत्तुंग शिखरवाला गरवीला पर्वत
रंगों के कच्चे धब्बे-सा धुला, बह गया—
घाटी, गाँव, खेत, वन, झरने
सकल सृष्टि ज्यों धुँआ-धुँआ अणुओं में
विश्रृंखल विभक्त हो बिखर गयी है !
शेष बचा हूँ केवल मैं
या मेरे चारों ओर दूर तक फैला हुआ सफ़ेद अँधेरा

बाक़ी सब कुछ नष्ट हो गया
गाँव, जहाँ पर मेरा घर था
पगडण्डी, जिन पर चल मैं शिखरों तक पहुँचा
जंगल, जिसमें बड़ी साँझ तक भटका खोया
झरने, जिनमें थके धूल से सने पाँव धो थकन मिटायी,

सब कुछ–सब कुछ–नष्ट हो गया

शेष बचा हूँ मैं
या मुझको घेरे उजली धूम्र-शून्यता।

धीरे-धीरे हार रहा हूँ,
इस ऊँचाई पर चढ़कर ही
जान सका हूँ–हम सब
क्या हैं ?
सिर्फ़,
बहुत ऊँचे पहाड़ पर चढ़ते बौने।

बौना–जिसको केवल दो पग दीख रहा है
दो पग आगे
दो पग पीछे
दो पग ऊपर
दो पग नीचे
दो पग की ही केवल जिसकी ज्ञान-परिधि है !
कहाँ पड़ेगा ग़लत क़दम
औ' मीलों लम्बी घाटी मुझको खा जायेगी !

यह अथाह शून्यता
डरा मैं
हाथों से टटोलकर किसको खोज रहा हूँ
यह है पत्थर, ये हैं जड़ें
किन्तु यह क्या है ?
अँधियारे में नरम परस-सा
किसका हाथ छू गया मुझको ?

"मैं हूँ एक दूसरा बौना
पगडण्डी से ज़रा अलग हट
साथ तुम्हारे मैं चलता आया हूँ अब तक।
हारो मत, साहस मत छोड़ो
मैं भी हूँ बौना, वामन हूँ
किन्तु तीन पग माँगें हैं मैंने धरती से
दो पग तुमको दीख रहा है
उसे पार कर बढ़ो

तीसरा पग तो मुझमें सार्थक होगा
मुझपर छोड़ो,

हर मनुष्य बौना है लेकिन
मैं बौनों में बौना ही बनकर रहता हूँ
हारो मत, साहस मत छोड़ो
इससे भी अथाह शून्य में
बौनों ने ही तीन पगों में धरती नापी।"

पतला पड़ने लगा
दृष्टिरोधी वह परदा
सहसा मुखर हो उठी वह निश्शब्द शून्यता

दीखे नहीं,
मगर चीड़ों ने सन-सनकर मदमाती गन्धोंवाले
पवन सँदेसे भेजे
झुरमुट में सहमी चिड़ियों ने
दबे कण्ठ से मुझे पुकारा
दूर कहीं सुन पड़ा पहाड़ी गाने का स्वर।

थोड़ा-सा विश्वास लौटकर आया मुझमें
दीख नहीं पड़ते हैं
पर इस गहन कुहा में
कितने ही जंगली रास्ते आते-जाते
पथिकों से अब भी सजीव हैं
अपराजित है जिनमें चलने की आकांक्षा।
दीख नहीं पड़ता है सूरज
पर दो शिखरों बीच झर रही
दिव्य ज्योति-सी धूप धुँईली।

नदियाँ नीचे चमक उठीं रूपाडोरी-सी
और दूधिया शीशे में से

झलक उठे हैं वृक्ष बाँझ के, पुल लोहे के,
धीरे-धीरे परतें कटने लगीं धूम की
यहाँ वहाँ पर
पिघले सोने के पानी-सी
धूप टपकने लगी
गाँव खिल गये फूल-से

बादल जैसे आया वैसे लौट गया है

केवल कुछ बादल के पीछे छूटे टुकड़े
छायादार झाड़ियों में विश्राम कर रहे
जैसे धौरी उजली गायें

एक अकेला चंचल बादल
चाँदी के हिरने-सा घाटी में चरता है !

□□

हमारी अन्य कविताएँ

कविता	लेखक	मूल्य
तीसरा पक्ष	लक्ष्मीकान्त वर्मा	१३.००
चार तार [पुर.]	डॉ. द. रा. बेन्द्रे	१५.००
युग्म	डॉ. जगदीश गुप्त	३०.००
स्वर्णरेख	बशीर अहमद 'मयूख'	९.००
संचयिता	रामधारीसिंह 'दिनकर'	१४.००
एकान्त	नेमिचन्द्र जैन	१०.००
स्मृति सत्ता भविष्यत् तथा अन्य श्रेष्ठ कविताएँ [पुरस्कृत]	विष्णु दे	१२.००
शून्य पुरुष और वस्तुएँ	वीरेन्द्रकुमार जैन	१५.००
संकल्प सन्त्रास संकल्प	विष्णुकान्त शास्त्री	१०.००
बावरा अहेरी	अज्ञेय	६.००
श्रीरामायण दर्शनम् (पूर्वरंग) [द्वि. सं.]	कु. वें. पुट्टप्पा	५.००
मैं तट पर हूँ	अमृता भारती	८.००
छप्पन कविताएँ	बालमणि अम्मा	१०.००
चिदम्बरा संचयन [पुर.]	सुमित्रानन्दन पन्त	
कन्नड, तेलुगु, गुजराती, मराठी, बांग्ला, मलयालम–	प्रत्येक	७.००
	अँगरेज़ी	८.००
प्रेरणा के मोरपंख	डॉ. कर्णसिंह	४.००
ठण्डा लोहा	डॉ. धर्मवीर भारती	७.००
क्योंकि मैं उसे जानता हूँ	अज्ञेय	५.००
पक गयी है धूप	डॉ. रामदरश मिश्र	५.००
पाँच जोड़ बाँसुरी	सं. : चन्द्रदेव सिंह	१०.००
प्राचीना	उमाशंकर जोशी	६.००
निशीथ [पुर.]	,, ,,	१०.००

कविता	लेखक	मूल्य
कितनी नावों में कितनी बार	अज्ञेय	४ ००
आँगन के पार द्वार [पुरस्कृत, पं. सं.]	,,	७.००
अरी ओ करुणा प्रभामय	,,	५.००
तार सप्तक [चतुर्थ संस्करण]	सं. : अज्ञेय	१२.००
दूसरा सप्तक [द्वि. सं.]	,, ,,	८.००
तीसरा सप्तक [तृ. सं.]	,, ,,	८.००
रूपाम्बरा [अप्राप्य]	,, ,,	
एक और नचिकेता	जी. शंकर कुरुप	४.००
औटक्कुष़ल (बाँसुरी) [पुर., द्वि. सं.]	जी. शंकर कुरुप	१०.००
प्रतिनिधि संकलन [कविता, मराठी]	सं. : दिनकर सोनवलकर	६.००
अँधेरी कविताएँ [पुर.]	भवानीप्रसाद मिश्र	५ ००
अतुकान्त	लक्ष्मीकान्त वर्मा	५.००
अभी और कुछ	शकुन्त माथुर	४.००
जो बँध नहीं सका	गिरिजाकुमार माथुर	४.००
धूप के धान [पुरस्कृत, तृ. सं.]	,, ,,	५.००
मेपल	डॉ. प्रभाकर माचवे	४.००
अनुक्षण	,, ,,	४.५०
माया दर्पण	श्रीकान्त वर्मा	४.५०
अग्निबीज	डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय	४.५०
शहर अब भी सम्भावना है	अशोक वाजपेयी	४.००
इतिहास पुरुष	डॉ. देवराज	४.५०
अन्धा चाँद	मुनि रूपचन्द	३.५०
आत्मजयी [द्वि. सं.]	कुँवर नारायण	६.००
चौंसठ कविताएँ	इन्दु जैन	४.५०
संक्रान्त	डॉ. कैलाश वाजपेयी	४.००
चाँद का मुँह टेढ़ा है [च. सं.]	ग. मा. मुक्तिबोध	१६.००
हिम-विद्ध	डॉ. जगदीश गुप्त	४.००
हम विषपायी जनम के [द्वि. सं.]	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	२०.००
बीजुरी काजल आँज रही [द्वि. सं.]	माखनलाल चतुर्वेदी	४.५०
वेणु लो गूँजे धरा [द्वि. सं.]	,, ,,	४.५०
अर्द्धशती	बालकृष्ण राव	४.००

कविता	लेखक	मूल्य
रत्नावली	हरिप्रसाद 'हरि'	३.००
वीणापाणि के कम्पाउण्ड में	केशवचन्द्र वर्मा	४.५०
आवाज तेरी है	राजेन्द्र यादव	४.००
देशान्तर [द्वि. सं.]	डॉ. धर्मवीर भारती	१२.००
कनुप्रिया [च. सं.]	,, ,,	५.००
वाणी [द्वि. सं., परिवर्द्धित]	सुमित्रानन्दन पन्त	५.५०
सौवर्ण [द्वि. सं., परिवर्द्धित]	,, ,,	४.५०
अविराम चल मधुवन्ती	वीरेन्द्र मिश्र	४.००
लेखनी-बेला [द्वि. सं.]	वीरेन्द्र मिश्र	४.५०
वर्द्धमान [महाकाव्य, पुरस्कृत]	अनूप शर्मा	१२.००
पंच-प्रदीप	शान्ति मेहरोत्रा	२.००
मेरे बापू	तन्मय बुखारिया	३.००

□
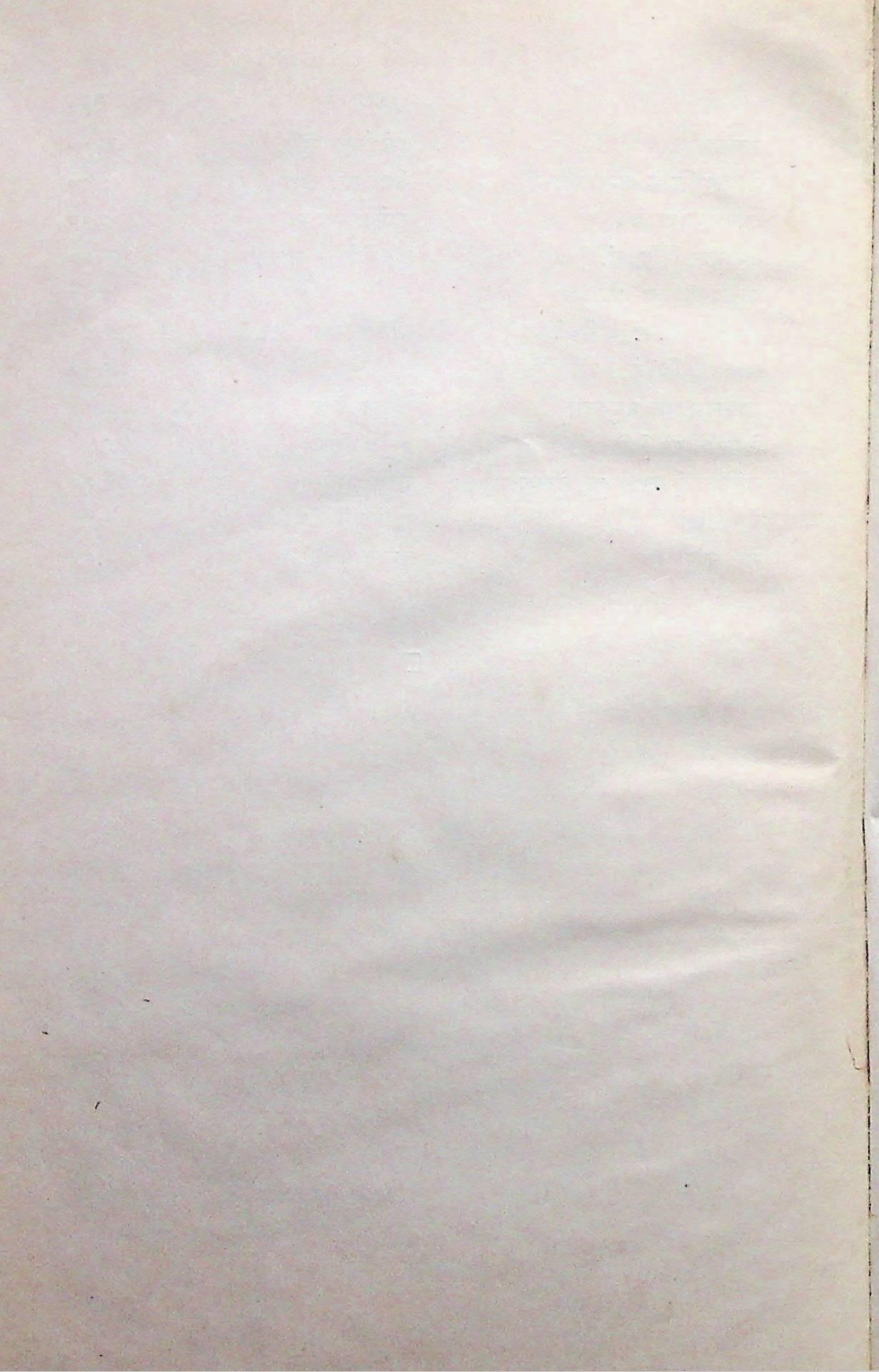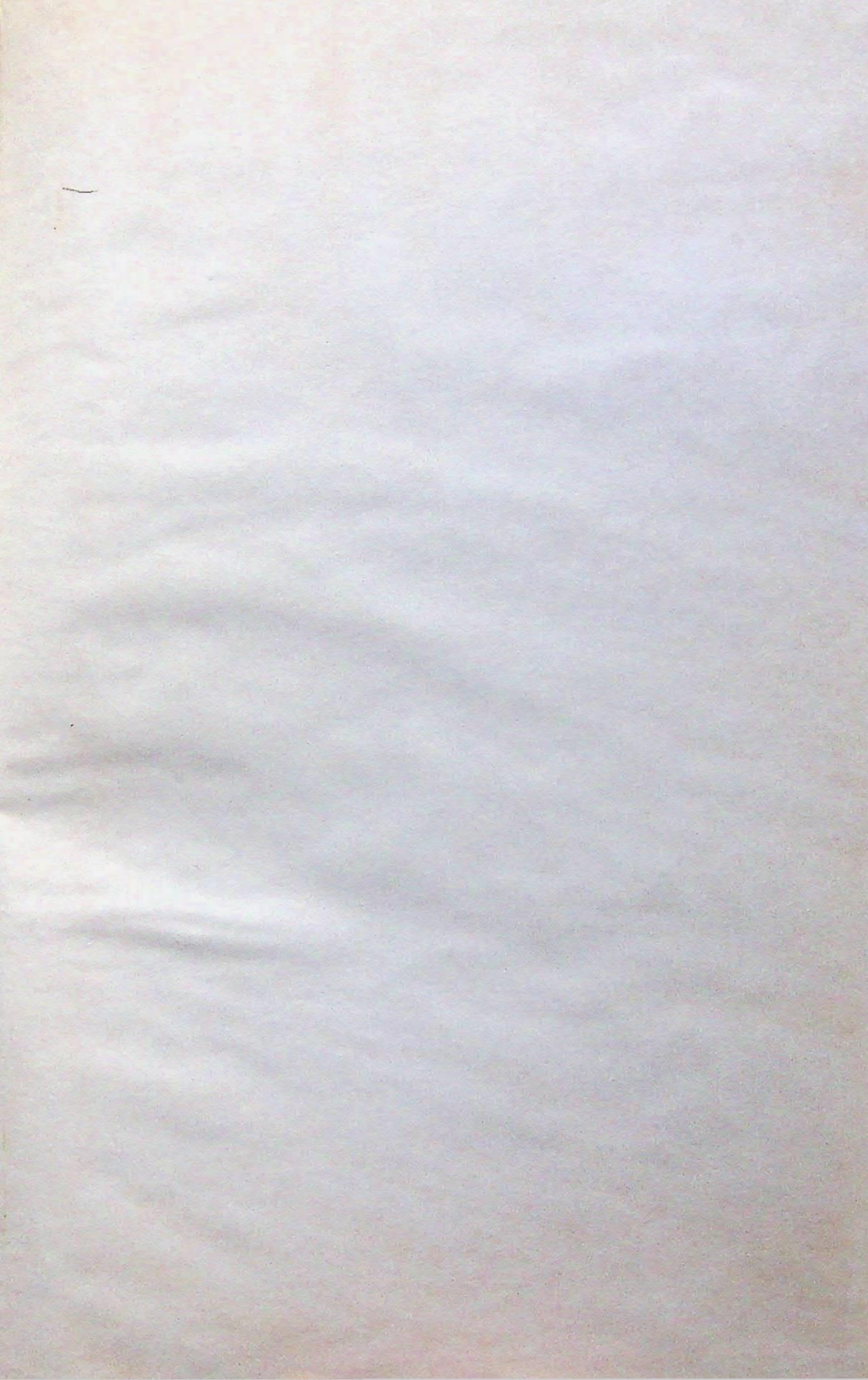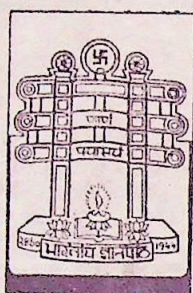
भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक - हितकारी
मौलिक साहित्य का निर्माण

•

संस्थापक

साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२,२१,००५